प्रबुद्ध भारतके अहिंसक सन्त
श्रीमान १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी

वीर सेवा मन्दिर सस्ती ग्रन्थ माला का पंचम पुष्प

सुखकी झलक

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी के
महत्व पूर्ण प्रवचनोंका संग्रह)

संकलयिता—

प. पूरनचन्द जैन बी०ए०, बरैया लश्कर

सम्पादक—

परमानन्द जैन शास्त्री

प्रकाशक—

वीर सेवा मन्दिर
सरसावा (सहारनपुर)

प्रथमवार २००० | वीर नि० सं० २४७६ वि० सं० २००६ | मूल्य लागत मात्र दश आना

प्रस्तावना

प्रवक्ता पूज्य वर्णीजी और उनके प्रवचन

भारत सदासे अध्यात्मिक विद्याका केन्द्र रहा है। उसमें मुमुक्षु आध्यात्मिक योगियोंने अपनी आत्म-साधना और उग्रतपश्चर्याके अनुष्ठान द्वारा अध्यात्म विद्याके चरम विकासको पाकर जगतका भारी कल्याण किया है। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने वस्तुतत्त्वकी यथार्थताको दिखलाया और स्वय उस आदर्शमार्गके पथिक अथवा नमूना बनकर आत्मविकासके अनुपम आनन्दको प्राप्त किया है। साथ ही, जगतको उसका सरल एव सत्यमार्ग भी प्रदर्शित किया है। पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रशादजी वर्णी न्यायाचार्य उन्ही आध्यात्मिक योगियों और अहिंसक सन्तोंमे से एक है। जिनकी छत्र छायामे रहकर अनेक मानवोंने अपने जीवन का उत्थान किया है। वर्णीजी केवल तत्त्वज्ञानी और अध्यात्म विद्याके रसिक ही नही है किन्तु तपस्वी होनेके साथ-साथ बडे ही अहिंसक और वस्तुतत्वके यथार्थ उपदेष्टा भी हैं। आपमे राष्ट्रीयता है और देश व धर्मसे प्रेम है, तथा सबसे महान् वस्तु है जगतके कल्याणकी निरीह भावना आपकी दयालुता अथवा करुणा वृत्ति तो लोक प्रसिद्ध है, आपने आजाद हिंद फौजके फौजियोंकी रक्षार्थ अपनी चादर भी दे दी थी और उनकी रक्षाके सम्बन्धमे आपने जो उद्गार व्यक्तकिये

थे वे आप की महानता के सूचक हैं। आप दीन दुखियोंके दुख मोचन करनेके लिए अपनी शक्ति भर प्रयत्न करते रहते हैं आपका मानस लोक कल्याणकी पवित्र भावनाओंसे ओत-प्रोत है आपकी ऐतिहासिक पैदल यात्राका उद्देश्य भी यही है। यद्यपि वृद्धावस्था और शारीरिक कमजोरी होनेके कारण इतनी बडी पैदल यात्रा करना और गर्मी सर्दी तथा बर्षातकी कठिनाइयो एव विघ्नबाधाओं को सहना आसान काम नही है, किन्तु आत्मबल त्यागवृत्ति और निरीह लोककल्याणकी भावनाने आपमे अपूर्व बलका संचार किया और आन्तरिक प्रेरणावश मई जून-की उन तेज लुओंमे और बर्षा तथा शीतादिकी असह्य बाधाओंको सहतेको हुए लोक हृदयोमे आत्मकल्याणकी भावना जागृत करने, तथा अहिंसा और सत्यका यथार्थ प्रचार करते हुए आत्मसाधनामें निरत रहते हैं। आपकी यह पैदल यात्रा बिहारसे सी० पी० और सी. पी. से जगाधरी (अम्बाला) तक। तथा देहली और देहलीसे विहार करते हुए अभी आप इटावामे विराजमान हैं। शीतकी असह्य बाधाए सहते हुए आपका स्वास्थ्य खराब हो गया था, पैरोंमे सूजन आगई थी, बुखारकी तेजी ने जोर पकड लिया था, उस अवस्थामे भी पूज्य वर्णीजी वीतरागी थे और समयसारका नियमित समयपर प्रवचन करते थे। आप मानव स्वभावके पारखी हैं। आपकी इस यात्रामे अनेक मुमुक्षु जीवोंने आत्म-साधना का व्रत लिया है और अनेकों के आचार-विचारोंमे परिवर्धन, परिवर्तन और परिमार्जन हुआ

है तथा कितनोंको तत्वज्ञानके अभ्यासकी प्रेरणा मिली है।

आपका जीवन बड़ा ही शान्त है और शरीरकी आकृति सौम्य तथा स्वभावत भद्र है। प्रकृति सुकोमल, निर्मल, उदार और दयालुतासे आर्द्र है। वीतरागपरिणति, समीचीन दृष्टि और उदात्त भावना ये आपके लोकोत्तम जीवनके सहचर हैं। संसारके सभी प्राणियोसे आपका निर्मम मैत्रीभाव है। यहां तक कि विपक्षियों-विपरीत वृत्ति वालो—पर भी आपका माध्यस्थ्य भाव रहता है उनसे आपका न राग है और न द्वेष है।

आपके जीवनकी दूसरी विशेषता यह है कि आप कभी किसी व्यक्तिकी निन्दा नही करते और न उसके अवगुणोंका प्रकाश अथवा प्रचार ही करते है। आपको इस प्रकारकी समालोचना भी इष्ट नही है, जो परोक्षमे दूसरोके केवल दोषोका उद्भावन करती हो। यदि कोई उन्हें जबरन सुनाने लगता है तो उस ओरसे आप अपना उपयोग हटा लेते हैं। अथवा उसे ऐसा न करनेका संकेत कर देते है। आप अपनी प्रशसासे तो बहुत दूर रहते ही हैं। आपका व्यक्तित्व महान है और प्रज्ञा विवेकशालिनी है। आपकी पदार्थ विवेचना गम्भीर मृदु मधुर पर सरल भाषा मे होती है और वह वस्तुत्वकी यथार्थ निदर्शक होती है।

आपने अनेक शिक्षा संस्थाओंका निर्माण तथा भारतीय श्रमण संस्कृतिके प्रकाशक ग्रन्थोंके पठन-पाठनकी परम्पराका प्रचार किया है जिसके फल स्वरूप अनेक प्रतिष्ठित विद्वान आज जैन श्रमण संस्कृतिके प्रचार व प्रसारमे लगे हुए हैं। पूज्य वर्णी जी

ने जगतका और खास कर जैनसमाजका जो उपकार किया है वह इतिहासमे सुवर्णाक्षरोमे अंकित रहेगा और समाज चिर-काल तक आपका ऋणी रहेगा।

आपने अपना जीवन परिचय 'जीवनगाथा' नामक पुस्तकमे स्वयं ही लिखा है जो बहुतही महत्व पूर्ण और अनेक धार्मिक जीवन-घटनाओंसे ओत-प्रोत है। उससे आप यह सहज ही जान सकेगे कि उजियारी मां के लालने आदर्श बन जगत मे कैसा उजेला किया है।

प्रस्तुत पुस्तक आपके मुरार (ग्वालियर) मे हुए गत चातुर्मास का प्रतिफल है—इसमे दिये हुए आपके महत्वपूर्ण कुछ प्रवचनोंका संकलन बा० कपूरचन्दजी बी.ए बरैया लश्करने किया था, यदि सारेचतुर्मासके पूरे प्रवचनोंकासग्रह किया जाता तो एकबड़ा ग्रन्थ बन जाता पर ऐसा कोई कार्य आज तक नही किया जा सका। पूज्य वर्णीजीके महत्वपूर्ण प्रवचनोका सग्रह अवश्य होते रहना चाहिये और उसे उन्ही के शब्दो मे प्रकाशित होना चाहिये।

भाई कपूरचन्द जी बी ए ग्वालियर ने पूज्य वर्णीजीके प्रव-चनोंकी महत्तासे प्रेरित होकर उनका कुछ संकलन किया और उन्हे अपनी भाषामे लिखा था। यद्यपि लिखते समय उन्होने पूज्य वर्णीजीके भावोको तथा बुन्देलखडके 'भैया' आदिमधुर शब्दो को ज्योंका त्यो रहने देनेका यथा शक्य प्रयत्न भी किया था, परन्तु वे उसमे कितने सफल हुए यह कहना कठिन है। बादमे उन्होने अपनी ओरसे पुस्तकाकार प्रकाशित भी किया था, परन्तु

उसमें प्रेस एवं प्रूफ सम्बन्धि अनेक महत्वकी अशुद्धिया इतनी अधिक रह गई थी कि उनका परिमार्जन हुए बिना उससे यथेष्ट लाभ होनेकी सभावना न थी इसीसे उसका मैंने संशोधन सम्पादन कर तथा नये शीर्षकादिसे अलंकृत कर श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक चिदानन्दजीकी अनुमतिसे वीर सेवामन्दिर सस्ती ग्रन्थमालासे इसे प्रकाशित किया है।

पूज्यवर्णीजीके प्रवचन कितने उपयोगी और मानवजीवनके हित साधक है। इसे बतलानेकी आवश्यकता नही। वे आपके ७६ वर्ष के अनुभवपूर्ण तपस्वी जीवन आत्मचिन्तन और गभीर पाडित्यके निदर्शक तो हैं ही, किन्तु साथमे अपनी वीतराग परिणति, तत्त्व मीमासा और वस्तुतत्वके प्रतिपादक हैं। इनका मनन करनेसे मानव अपनी दानवताका परित्याग कर आत्महित मे निरत ही नहीं किन्तु वह अनन्त ससारके पाशको छेदने मे भी समर्थ हो जाता है। इससे पाठकी उनकी महत्ताका अनुमान कर सकते है।

अन्तमे मै पूज्यवर्णीजीके दीर्घ जीवनकी कामना करता हुआ उनके चरणोमे अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पण करता हुआ बा० कपूरचदजी बी० ए० का भी अभारी हू जिन्होने इसके प्रकाशनकी सहर्ष अनुमति प्रदान की। परमानन्द जैन

———

विषय-सूची

जगन्नाथ प्रेस राजघाट बेलारोड़ देहली में छपा।

श्री वीतरागाय नम

सुखकी एक झलक

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी
न्यायाचार्यके प्रवचनोंका सकलन
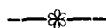
जीवकी शुभ-अशुभ प्रवृत्तियाँ

संसारमे मनुष्योकी वर्तमान अवस्थाएँ शुभ और अशुभ इन दो विकृतभावोंमे परिणमन कर रही हैं कभी यह प्राणी शुभरूप प्रवर्तन करने लग जाता है और कभी अशुभ रूप। प्राय यह लोगोंको विदित ही है कि शुभकार्य करनेसे पुण्य और अशुभसे पाप होता है। अशुभके उदयसे तो भोग सामग्री मिलती ही नहीं, जिससे आकुलित रहता है और कदाचित् पुण्योदयसे प्राप्त भी हुई तो उसके भोगनेमे आकुलित रहता है। आकुलता दोनोंमे है। इसको दृष्टान्त पूर्वक यों समझना चाहिए कि एक शूद्रके दो लडके है। एक ब्राह्मणके यहां पला तो वह कहता है कि 'अह ब्राह्मणोऽस्मि' मैं ब्राह्मण हूँ और दूसरा शूद्रके यहां पला तो वह अपनेको शूद्र समझने लगा और इस प्रकार मदिरा मॉसका सेवन करने लगा। तो देखो एक ब्राह्मण है और दूसरा शूद्र। यदि दोनोकी उत्पत्तिका विचार किया जाय तो वे शूद्रके

ही हैं। इसी तरह शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों अशुद्ध हैं। शुभोपयोगसे स्वर्गादिक और अशुभोपयोगसे नरकादिक प्राप्त होता है। परन्तु हैं दोनों संसारके कारण। एक स्वर्णकी बेड़ी है तो दूसरी लोहेकी बेड़ी। दोनों हैं बेड़ी ही। परन्तु इन दोनोंसे भिन्न एक तीसरी वस्तु और है और वह है शुद्धोपयोग जिसके अन्दर न तो शुभ और अशुभका विकल्प है और न किसी प्रकारकी आकुलता। वह तो एक निर्विकल्प भाव है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभोपयोग करता है पूजा दानादिमें प्रवृत्ति करता है परन्तु अन्तरंगसे वह उनकी भी चाहना नहीं करता। जैसे किसी मनुष्यको १०००) रु० का दण्ड हुआ परन्तु उसने अपनी चतुराईसे १००) रु० घूस देकर ९००) रु० बचा लिए। उसे अपार खुशी होनेकी बात ही थी, पर पूछो तो वह अन्तरंगसे यही चाहता था कि ये १००) रु० भी नहीं देने पड़ते, तो अच्छा था। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि समझता है कि यह मैं अशुभोपयोगसे बचा तो अच्छा हुआ, पर जो शुभोपयोगरूप क्रिया कर रहा हूँ यदि वह भी नहीं करनी पड़ती तो ही अच्छा था। मुझसे यदि पूछा जाय तो सम्यग्दृष्टिको करना पड़ता है पर करना नहीं चाहता। यहां तक कि वह भगवानसे भी स्नेह अन्तरङ्गसे नहीं करता। स्नेहको ही बंधनका कारण मानता है। यही श्रीसमयसारमें कहा है:—

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्।

तान्यस्मिन करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादन चास्तु तत् ॥
रागादीनुपयोगभूमिमनयज्ज्ञानं भवेत केवलम्
बन्धनैव, कुताप्युरत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम ॥

नेह तो भगवान्से भी अच्छा नहीं। जहाँ चिकनाता होगी वहीं तो धूल कण इत्यादि जमेंगे देखो स्नेहसे ही तिल्ली, जिसमे तेल रहता है, घानीमे पेला जाता है, बालूको कोई भी नहीं पेलता कृतान्तवक्र जो महाराज रामचन्द्रके सेनापति थे वे जब संसारसे विरक्त हुए तो राम कहने लगे, देखो तुम बड़े सुकुमार हो। आज तक तुमने किसीका तिरस्कार नहीं सहा। यह दिगम्बरी दीक्षा कैसे सहन करोगे ? उसी समय कृतान्तवक्र कहते हैं कि हे राजा राम ! तुमने कहा सो ठीक है। मुझे तुमसे बड़ा जबरदस्त स्नेह था यही मेरे लिए सबसे बड़ी परीषह थी। सो जब मैंने तुमसे स्नेह तोड़ दिया, तो यह दिगम्बरी दीक्षा कौन सा बड़ी बात है ? स्नेह से ही मनुष्य बन्धन मे पड़ता है। परमार्थदृष्टिसे तो भगवान् मे भी स्नेह बन्धनका कारण है, मनुष्य नाना प्रकारका कामनाओंकी भगवान्से याचना करता है यह कितनी बड़ी भूल है। जो भगवान् स्वयं रागद्वेषसे रहित-स्वात्मामे मग्न है, उनसे जो संसार सम्बन्धी भोग चाहता है तो मैं कहूँगा कि उसने भगवान् के स्वरूपको ही नहीं पहचाना। जो अर्हत देव वीतराग हैं उनमे जो रागकी इच्छा करता है तो उसने सच्चे लगनसे भक्ति ही

नहीं की। वह परमात्मा जो मोक्षका दाता है उससे स्वर्गादिक विभूतिकी इच्छा करना, यह बात तो भइया, हमारी समझ मे नहीं आती। वह तो ऐसा हुआ जैसे करोड़ पति से १००) रु० की चाह करना। धनजयने भगवानकी नाना प्रकारसे स्तुति की। अन्तमे यही कहा कि प्रभु मैं आपसे कुछ नही चाहता। निम्नलिखित श्लोक मे धनजय कविने कैसा गभीर भाव भर दिया है :—

इति स्तुतिं देव ! विधाय दैन्याद् वरं न याचे त्वमुपेक्षकोसि
छायातरूं सश्रयत स्वत स्यात्कश्छायया याचितआत्मलाभ ।

मैं तो यही कहूँगा कि देवाधिदेव अरहंतदेवसे तो संसार सम्बन्धी किसी भी प्रकारकी इच्छा करना ऐसा ही है जैसे वृक्षके तले बैठकर वृक्षसे छायाकी याचना करना। भगवानके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करो। वह शान्तिमुद्रा युक्त, ससार से विरक्त, हितैषी, परमवीतरागी और मोक्षलक्ष्मीके भर्ता है, उनसे किसी भी प्रकारकी कामना मत करो। वह तो यह बतलाते है कि देखो जैसे हमने दीक्षा धारण करके मुक्ति प्राप्त की वैसे ही तुम भी दीक्षा धारण कर मुक्तिके पात्र बनो।

लोकमे देखो दीपकसे दीपक जोया जाता है। बडे महर्षियो की उक्ति है कि पहले तो यह जीव मोहके मद-उदय मे 'दासोऽहं'' रूपसे उपासना करता है, पश्चात् जब कुछ अभ्यासकी प्रबलतासे मोह कृश होजाता है, तब 'सोऽहं, सोऽहं' रूपसे उपासना करने लग जाता है। अन्त मे जब उपासना करते करते शुद्ध ध्यानकी

ओर लक्ष्य देता है तब यह सर्व उपद्रवोंसे पार हो स्वयं परमात्मा हो जाता है। अत भक्तिका तो सच्चा महत्व यही है कि आत्माको परमात्मा बनाओ।

मोहकी महत्ता

मनुष्यका मोह बड़ा प्रबल होता है। यह सारा संसार मोहका ठाट है। यदि मोह न होय तो आया करो आस्रव, वह कभी भी बंधनको प्राप्त नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान् जब १३ वे गुण-स्थान (सयोगकेवली) मे चारों घातिया कर्मोका नाश कर चुकते है तब वहाँ योग रह जाते हैं योगोंसे आस्रव आते हैं परन्तु मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे कभी भी बंधते नहीं, क्योकि आस्रवोंको आश्रय देनेवाला जो मोह कर्म था उसका वे भगवान् सर्वथा नाश कर चुके। अरे, यदि गारा नही, तो ईटोंको चुनते चले जाओ, कभी भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होगी। इसको दृष्टान्तपूर्वक यो समझना चाहिए कि जैसे कीचड़ मिश्रित पानी है, उसमें कतक फल डाल दिया तो गंदला पानी नीचे बैठ गया और ऊपर स्वच्छ जल होगया। उसे नितराकर भाजनान्तर अर्थात् स्फटिकमणिके वर्तनमे रखनेसे गदलापन तो नही होगा, किन्तु उसमे जो कम्पन होगा अर्थात् लहरे उठेंगी वह शुद्ध ही तो होंगी, सो योग हुआ करो। योग-शक्ति उतनी घातक नही, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि मोहकी कलुषता चली जाय, तब वह स्वच्छतामें उपद्रव नहीं कर सकती, और उस बन्धको जिसमे स्थिति और अनुभाग होता है नहीं कर सकती, इसलिए अबन्ध है। और वस्तु-स्थिति

भी ऐसी ही है कि जिस समय आत्माके अन्तरंगसे मोह-रूप पिशाच निकल जाता है, तो और शेष अघातिया कर्म जली जेवरीवत् रह जाते है । तो इससे सिद्ध हुआ कि इन सब कर्मो मे जबरदस्त कर्म मोहनीय ही है । यही कर्म मनुष्यको नाना प्रकारके नाच नचाता है । एक कोरी था । वह मदिरा में मस्त हुआ कही चला जा रहा था । उधर से हाथीपर बैठा हुआ राजा आ रहा था । कोरीने कहा 'अबे, हाथी बेचता है ।' राजा बड़ा क्रोधित हुआ और मन्त्रीसे झल्लाकर कहा 'यह क्या बकता है ?' मन्त्री तुरन्त समझ गया और विनय पूर्वक बोला महाराज ! यह नही बोलता । इस समय मदिरा बोलती है, और जैसे तैसे समझा बुझाकर राजाको महलोमे लेगया । दूसरे दिन सभामे कोरीको बुलाकर राजाने पूछा क्यो ? हाथी लेना है । उसने कहा अन्नदाता ! मैंने कब कहा था ? आप राजा हो और मैं एक गरीब आदमी हूँ । गुजर बसर बड़ी मुश्किल से कर पाता हूँ । मैं क्या आपका हाथी खरीद सकता हूँ ? आप न्यायप्रिय हो, मेरा न्याय करो । राजाने मन्त्रीकी ओर देखा । मंत्री बोला 'महाराज ? मैंने तो पहिले ही कहा था कि यह नहीं बोलता इस समय मदिरा बोलती है' । राजा बडा आश्चर्य चकित हुआ । वैसे ही हम भी मोहरूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए झूम रहे है । वह अच्छा है, वह जघन्य है, अमुक स्थान इसके उपयोगी है, अमुक अनुपयोगी है, कुटुम्ब बाधक है, साधुवर्ग साधक

है—यह सर्व मोहोदयकी कल्लोल-माला है। मोहोदयमें जो कल्पनाएँ न हों, वे थोडी हैं। देखो, जब स्त्री पुरुषका विवाह होता है तब वह पुरुष स्त्रीसे कहता है कि मैं तुम्हारा जन्म पर्यन्त निर्वाह करूंगा, और वह स्त्री भी पुरुषसे कहती है कि मैं भी तुम्हारा जन्मपर्यन्त परिचर्या करूंगी। इस तरह जब विवाह सम्पन्न हो जाता है और उनमेसे यदि किसीको भी वैराग्य हो जाता है तो घर छोड कर विरक्त हो जाते है। स्त्री विरक्त हुई तो आर्यिका होजाती है और पुरुपको विरक्तता हुई तो मुनि हो जाता है। तो अब बतलाइए कि वे विवाहके समय जो एक दूसरे से वचनबद्ध हुए थे, उसका निर्वाह कहा रहा ? इससे सिद्ध हुआ कि यह सब मोहनीय कर्मका प्रबल उदय था। जब तक वह कर्मोदय है तभी तक सारा परिवार और संसार है। जहा इस कर्मका शमन हुआ तो वही परिवार फिर बुरा लगने लगता है। जब सीताजीका लोकापवाद हुआ और रामने सीतासे अग्नि-परीक्षा देनेको कहा। सीता अपने पतिकी आज्ञा शिरोधार्य कर जब अग्निकुण्डसे निष्कलक हो, देवोद्वारा अर्चित होती है तब सीताको ससार, शरीर और भोगोसे अत्यन्त विरक्तता आजाती है। उस समय राम आकर कहते हैं कि हे सीते ! तू निरपराध है, धन्य है, देवों द्वारा पूजनीक है। आज मेरे हृदयके आसू नेत्रोंमे छलक आए है। प्रासादोको चलकर पवित्र करो। अथवा अपने लक्ष्मणकी ओर दृष्टिपात करो। अथवा हनुमान पर करुणा कर, जिसने सकटके समय सहायता पहुंचाई। अथवा

अपने पुत्र लवांकुशकी ओर तो देख। तब सीता कहती है हे राम ! आप यह कैसी पागलपनकी बातें कर रहे हो ? तुम तो स्वयं ज्ञानी हो। संसारसे तो विरक्त होते नहीं, और मुझे विरक्त होने में बाधा करते हो। तुम्हें शर्म नहीं आती। मोहकी विडम्बना-का तो जरा अवलोकन कीजिये। एक दिन वह था जब सीता रावणके यहा रामके दर्शनार्थ खाना-पीना विसर्जन कर देती थी। आंसुओंसे सदा मुँह धोये रहती थी। आज वही सीता रामके सन्मुख हो ऐसे वचन कहे कि 'तुम्हें शर्म नही आती'। कैसी विचित्र मोह माया है। राम जैसे महापुरुष भी इसके फन्दसे न बच सके। जब सीता हरी गई तो पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी उसके विरहमे इतने व्याकुल रहे, जो वृक्षोंसे पूछते हैं कि 'अरे तुमने कहीं हमारी सीता देखी है' यही नहीं बल्कि वही पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी श्रीलक्ष्मणके मृत शरीरको ६ मास लेकर सामान्य मनुष्योंकी तरह भ्रमण करते रहे। क्या यह मोहका जादू नहीं है ? वाहरे मोह राजा ! तूने सचमुच जगतको अपने वशवर्ती करलिया। तेरा प्रभाव अचिन्त्य है। जैसे भगवान की लीला अपार है तो तेरी लीला भी अपरम्पार है। कोई भी तीन लोक मे ऐसा स्थान नहीं, जहा तूने अपनी विजय-पताका न फहराई हो। जब सीता महारानी और राम जैसे महापुरुषोंकी यह गति हुई, तो और रक पुरुषोंकी क्या कथा ? धन्य है तू और तेरी लीला को।

सम्यग्दृष्टि और उसकी प्रवृत्ति

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि कौन है ? जिसको हेयो-पादेयका ज्ञान होगया वही सम्यग्दृष्टि है। इसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि देवदत्त और यज्ञदत्त दो भाई थे। उनके दो लड़के थे। एक देवदत्तका और दूसरा यज्ञदत्तका। एक दिन देवदत्त दो आम लाया पहला आम दूसरेकी अपेक्षा कुछ अच्छा था। विशेष अन्तर नहीं था। उसने अच्छे आमको दाहिने हाथमें लिया, कुछ न्यूनता लिये दूसरे आमको बांये हाथमे और दोनों लड़कोंको अपने पास बुलाया। जो उसका लड़का था वह बॉई ओर बैठा और दूसरा दाहिनी ओर। अब देखो, उसको सीधे हाथ करके दोनों आमोंको सीधे दे देना चाहिये था। ऐसा न करके उसने दाहिने हाथको बाएँ वा बाएँ हाथको दाहिने कर वे दोनों आम उन दोनों लड़कों को दे दिये। उसका भाई दूरसे खड़ा हुआ यह कौतुक देख रहा था। वह तुरन्त उसी समय आकर बोला 'भाई, ! मुझे तो अलग कर दो,' वह बोला 'क्यों, किसलिये अलग होना चाहते हो ? उसने कहा, तुम जानते हो या मैं जानता हूं वैसे ही सम्यग्दृष्टिको आत्मा और अनात्माका भेद-विज्ञान प्रकट होजाता है। वह सकल बाह्य पदार्थोंको हेय जानने लगता है। पर पदार्थोंसे उसकी मूर्छा बिलकुल हट जाती है। यद्यपि वह विषयादिमें प्रवर्तन करता है परन्तु वेदनाका इलाज समझ करे। क्या करे, जो पूर्व बद्ध कर्म हैं उनको तो भोगना ही पड़ता

है। हां, नवीन कर्मका बंध उस चालका उसके नही बन्धता। हमको चाहिये कि हमने अज्ञानवास्थामे जो कर्म उपार्जन किये हैं, उनको हटानेका प्रयत्न न करे, बल्कि आगामी नूतन कर्मका बन्ध न होने दे। अरे, जन्मान्तरमें जो कर्मोपार्जन किये गए हैं उनको तो भोगने ही पडेंगे। चाहे रो करके भोगो, चाहे हँस करके। फल तो भोगना ही पडेगा, यह निश्चित है। यदि 'हाय हाय' करके भइया रोगकी शान्ति हो जाय तो उसे भी कर लो। परन्तु ऐसा नही होता। हाय हायकी जगह भगवान् भगवान् कहे और उस वेदनाको शान्ति से सहन करले और ऐसा प्रयत्न करे जिससे आगे वैसा बध न होय। हाय हाय करके होगा क्या ? हम आपसे पूछते हैं इससे उल्टा कर्म बन्ध होगा। सो ऐसा हुआ, जैसे किसी मनुष्यको ५००) रु० मय ब्याजके देना था सो तो दे दिया, ६००) रु० और कर्जा सिर पर ले लिया। जैसा दिया वैसा न दिया। तो हमको पिछले कर्मोकी चिन्ता न करनी चाहिये, बल्कि आगामी कर्मका सबर करे। अरे, जिसको शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना है वह नवीन शत्रुओका आक्रमण रोक देवे और जो शत्रु गढ़ मे हैं वह त चाहे जब जीते जा सकते हैं। इसकी चिन्ता न करे। चिन्ता करे तो आगामी नवीन बंधकी, जिससे फिर बधन मे न पड़े, और जो पिछले कर्म हैं वह तो रस दे कर खिरेंगे ही, उनको शान्ति पूर्वक सहन करले। आगामी कर्म-बन्ध हुआ नहीं, पिछले कर्म रस देकर खिर गये। आगामी कर्जा लिया नहीं पिछला कर्जा

अदा किया। चलो छुट्टी पाई। प्रत्याख्यानका मतलब क्या है? आगे आने वाले कर्मका संवर करे, यही तो प्रत्याख्यान है। और क्या तुम्हीं बताओ? सम्यग्दृष्टि पिछले कर्मोंकी चिन्ता नहीं करता बल्कि आगामी जो कर्म बँधने वाले हैं, उनका संवर करता है जिससे उसके उस चालका बन्ध नहीं होता। रहे पिछले कर्म सो उनको ऐसे भोग लेता है जैसे कोई रोगी अपनी वेदनाके लाने कड़वा औषधिका सेवन करता है। तब विचारे रोगीको कड़वी औषधिसे प्रेम है या रोग निवृत्तिसे। ठीक यही हाल सम्यग्दृष्टिका चारित्रमोहके उदयसे होता है। वह अशुभोपयोगको तो हेय समझता ही है और शुभोपयोग पूजा दानादि-में प्रवृत्ति करता है उसको भी वह मोक्षमार्गमें बाधक जानता है। वह विषयादिमें भी प्रवर्तन करता है पर अन्तरंगसे

यही चाहता है कि कब इस उपद्रवसे छुट्टी मिले? जेलखाने में जेलर हन्टर लिए खड़ा रहता है, कैदीको सड़ाक सड़ाक मारता भी है और आज्ञा देता है कि 'चलो चक्की पीसो, बोझा उठाओ' आदि। तब वह कैदी लाचार हो उसी माफिक कार्य करता है परन्तु विचारा अन्तरंगमें यही चाहता है कि हे भगवान! कब इस जेलखानेसे निकल जाऊँ। पर क्या करे, परवश दुःख भोगना पड़ता है। यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है। वह चरित्रमोहकी जोरावरीसे अशक्य हुआ गृहस्थीमें अवश्य रहता है पर 'जैसे जलमें कमल-दल जलको परसै नाहिं'

वैसे उसका लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग में ही रहता है। वह बाह्यमें वैसा ही प्रवर्तन करता है जैसा मिथ्यादृष्टि, परन्तु दोनोंके अन्त-रंग अभिप्राय प्रकाश और तमके समान सर्वथा भिन्न है। मिथ्यादृष्टि भी वही भोग भोगता है और सम्यकत्वी भी। बाह्य मे देखो तो दोनोंकी क्रिया समान है। पर मिथ्याती रागमे मस्त हो झूम जाता है और सम्यत्वी उसी रागको हेय जानता है।

पंडित मूरख दो जने भोगत भोग समान।
पंडित समवृति ममत विन मूरख हरष अमान ॥

यही कारण है कि मिथ्यादृष्टिके भोग बंधनके कारण हैं। और सम्यकत्वीके निरजराके लिये। क्यों, वही ज्ञान और वैराग्यकी प्रभुताके कारण।

सम्यत्क्त्वी के भोग निर्जरा हेत हैं।
मिथ्यातीके वही बंध फल देत हैं ॥

कोई पूछे सम्यत्वी जो भोग भोगता है क्या उसे बंध नहीं होता? इसका उत्तर कहते हैं कि बन्धयो तो दशम गुणस्थान तक बतलाया है। पर मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय जो सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी हैं उसका अभाव होनेसे अनंतसंसारकी अपेक्षासे वह अबंध ही है। सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होजाता है। वह पदार्थोंके स्वरूपको यथावत् जानने लग जाता है। 'सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे परिणामन कर

रहे हैं। कोई पदार्थ किसी पदार्थके आधीन नहीं है' इसका उसे दृढ़ श्रद्धान होजाता है। इसलिए वह किसी पदार्थसे रागद्वेषादि नहीं करता उसकी दृष्टि बाह्य पदार्थ में जाती अवश्य है पर रत्त नही होती। यद्यपि औदयिक भावोंका होना दुर्निवार है; परन्तु जब उनके होते अन्तरंगकी स्निग्धताकी सहायता न मिले तब तक वह निर्विष सर्पके समान स्वकार्य करनेमे असमर्थ हैं, ऐसे अनुपम एवं अलौकिक या स्वात्मीक सुखका उसे अनायासही अनुभव होने लगता है। यही कारण है कि सम्यक्त्वी बाह्य मे मिथ्यादृष्टि जैसा प्रवर्तन करता हुआ भी श्रद्धामे राग द्वेषादिके स्वामित्वका अभाव होने मे अबध है, और वही मिथ्यादृष्टी राग-द्वेषादिके स्वामित्वके सद्भावसे निरन्तर बधता ही रहता है। सो भइया, वह सब अन्तरंगके अभिप्रायकी बात है। अभिप्राय निर्मल होना चाहिए। कोई भी कार्य करते समय अपने अभिप्रायको देखे कि उस समय कैसा अभिप्राय है ? यदि वह अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात नही करता तो वह मनुष्य नहीं, पशु है। सबसे पहिले अपने अभिप्रायको निर्मल बनाए। अभिप्रायोंके निर्मल बनानेमे ही अपना पुरुषार्थ लगा देवे। जिन जीवोंके निरन्तर निर्मल परिणाम रहते हैं वे नियमसे सद्गति के पात्र होते हैं। हा तो सम्यग्दृष्टिके परिणाम निरंतर निर्मल होते जाते हैं। वह कभी अन्यायमें प्रवृत्ति नहीं करता

अच्छा बताओ, जिसकी उपर्युक्त जैसी भावना है, वह काहेको अन्याय करेगा। अरे, जिसने रागको हेय जानलिया वह क्या राग के लाने अन्याय करेगा ? जो विषयों के त्यागने का इच्छुक है वह क्या विषयोंके लाने दूसरोकी गाठ काटेगा ? कदापि नहीं। वह गृहस्थीमें उदासीनतासे रहता हुआ जब चारित्रमोह गल जाता है तब तुरंत ही व्रतोंको धारण करने लगता है। भरतजी घर ही मे वैरागी थे। उनको अन्तमुहूर्तमे ही केवलज्ञान प्राप्त होगया। इसका कारण यही कि इतनी विभूति होते हुए भी वह अलिप्त थे। किसी पदार्थ मे उनकी आसक्ति बुद्धि नहीं थी। पर देखो भगवान्को वह यश प्राप्त नहीं। क्या वह वैरागी नही थे ? अस्तु सम्यग्दृष्टिकी महिमा ही विलक्षण है, उसकी परिणति भइया वही जानें, अज्ञानियोको उसका भेद मालूम ही नही होता।

एक मनुष्य था। उसका यह नियम था कि जो कोई उसके पास चीज लाए, वह ले लिया करता था। एक दिन एक मनुष्य दरिद्रता लाया। उसने नियमानुसार वह ले ली। जब दरिद्रता महारानीका पदार्पण हुआ तो सब धन स्वाभाविकही जानेको ठहरा। यहा तक कि क्षमा, तप, यम, सयम सभी गुण जाने लगे। जब सत्य जाने लगा, तो उसने पकड़ लिया और एक तमाचा लगाया। वह कहने लगा तू कहा जाता है ! सत्य बोला 'जहा सब जाते है वहा मैं भी जाता हूँ।' उसने कहा 'सब चले जाए तो चले जाए पर मैं तो तुझे नहीं जाने देता। तू क्यो जाता है ? उसे पकड़ कर रख लिया। तब सत्यके

आ जानेसे सभी गुण अपने आप आगए। तो वही शुद्ध दृष्टि अपनी होनी चाहिये। बाह्य नानाप्रकार के आडम्बर किया करो, कुछ नहीं होता। गधी के सौ बच्चे होते हुए भी भार ढोती रहती है और सिंहनीके एक बच्चा होता हुआ भी 'निर्भयं स्वपिति' निर्भय सोती रहती है।

एक मनुष्य था। वह हीरोंकी खान मे काम करता था। हां ऐसा होता था कि जो खानमे काम करता और उसके द्वारा जो हीरा प्राप्त होता वह सरकार ले लिया करती थी और फिर वह सरकार कुछ उसे दे दिया करती थी। वह आदमी था तो लखपती, पर दैवयोगसे गरीब हो गया था। एक दिन खदान मे काम करते करते कुछ नही मिला एक छोटी सिला मिल गई। वह उसे ले कर घर आया। उसकी स्त्री उस पर मसाला पीस लिया करती थी। एक दिन एक जौहरीको उसने निमंत्रण दिया। वह आया और शिलाको देख कर बोला तुम इसके सौ रुपये ले लो। वह आदमी अपनी स्त्री से पूछने गया। स्त्री बोली अरे वेच कर क्या करोगे? मसाला पीसनेके काम आ जाती है। वह सौ रुपये देता है यह लो मुझसे १०००) रु० के गहने। इसे वेच लो। वह आदमी जौहरी के पास आ कर बोला स्त्री नहीं बेचने देती। मैं क्या करूँ। तब जौहरीने कहा यह लो २०००) रु० अच्छा ३००० रू० ले लो। वह समझ गया और उसने नहीं दी।

उसने उसी समय सिलावटको बुलवाकर उसके दो टुकड़े करवाए। टुकड़े करवातेही हीरे निकल पडे। माला माल हो गया। तो देखो यह आत्मा कर्मोंके आवरण से ढकी पड़ी है। वह हीरेकी ज्योति के समान है। जब वह निवारण हो जाती है तो अपना पूर्ण प्रकाश विकीर्ण करती है। हीरेकी ज्योति भी उसके सामने कुछ नहीं। उस आत्माका केवल ज्ञायक स्वभाव ही है। सम्यग्दृष्टि उसी ज्ञायक स्वभावका अपना कर कर्मोंके ठाटको कटाकसे उड़ाकर परात्मस्थिति तक क्रमशः पहुच जाता है और सुखार्णव मे डूबा हुआ भी अघाता नहीं।

अब कहते हैं कि एक टंकोत्कीर्ण शुद्ध आत्मा ही पद है; इसके बिना और सब अपद हैं। वह शुद्ध आत्म कैसी है? ज्ञानमय एवं परमानन्द स्वरूप है। ज्ञानके द्वारा ही संसार का व्यवहार होता है। ज्ञान न हो तो देखलो कुछ नहीं। यह वस्तु त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है—इसकी व्यवस्था कराने वाला कौन? एक ज्ञान ही तो है।

वास्तव मे अपना स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। केवल देखना एव जानना मात्र है। यदि देखने मात्र ही से पाप होता है तो मै कहूंगा कि परमात्मा सबसे बड़ा है, क्योंकि वह तो चराचर वस्तुओंको युगपद देखता और जानता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि देखना और जानना पाप नहीं, पाप तो अन्तरंग का विकार है। यदि स्त्रीके रूपको देख

लिया तो कोई हर्ज नहीं पर उनको देखकर राग करना यही पाप है। हे भइया ! जो यह पर्दे की प्रथा चली, इसका मूल कारण यही कि लोगोंके हृदय मे विकार पैदा हो जाता था। इन लम्बे-लम्बे घूघटोंमे क्या रक्खा है ? बताओ। आत्मा का स्वरूप ही ज्ञातादृष्टा है। अब बताओ बाबाजी, इन नेत्र इन्द्रियोंसे देखें, नहीं तो क्या फोड लें ? नेत्र इन्द्रियोंका काम ही पदार्थोंको दिखाना; है। दर्शक बनकर दृष्टा बने रहो तो कुछ विशेष हानि नही किन्तु यदि उनमे मनोनीति कल्पना करना, राग करना तभी फसना है। रागसे ही बन्ध है। परमात्माका नाम जपे जाओ. ॐ नम वीतरा गाय; ॐ नम वीतरागय: ॐ नम बीतरागाय। क्या होता है ? कोरा जाप मात्र जपने से उद्धार नही होता यदि जपने ही से उद्धार हो जाय तो क्यों नही होता ? अरे, परमात्माने जो कार्य किए–रागको छोड़–संसारको त्यागा, तुम भी वैसा ही करो। सीधी सादी सी तो बात है। दो पहलवान हैं। एकको तेलका मर्दन है दूसरेको नहीं। जब वे दोनों अखाडे मे लड़े तो एकको मिट्टी चिपक गई, दूसरेको नही। अत रागको चिकनाहट ही बन्ध कराने वाली है। देखो दो परमाणु मिले एक स्कंध हो गया। अकेला परमाणु कभी नही बधता तो आत्माका ज्ञान गुण बन्धका कारण नही। बन्ध का कारण उसमे रागादिक की चिकनाहट है।

ससार के सब पदार्थ जुदे जुदे हैं। कोई भी पदार्थ किसी

भी पदार्थ से बधता नहीं है। इस शरीरको ही देखो। कितने ही स्कन्धोंका बना हुआ है? जब स्कंध जुदे जुदे परमाणु मात्र रह जाय तो सब स्वतन्त्र हैं, अनादिनिधन है। केवल अपने मानने मे ही भूल पडी हुई है। उस भूलको मिटा दो, चलो छुट्टी पाई। और क्या धरा है? ज्ञान का काम तो केवल पदार्थो को जताना मात्र है। यदि उस ज्ञानमे इष्टानिष्ट कल्पना करो, तो बताओ किसका दोष है? शरीर को आत्मा जान लो किसका दोष है? अच्छा, शरीर कभी आत्मा होता नही। जैसे दूरसे सीप पडी है और तुम चांदी मान लो तो क्या सीप चांदी हो जायगी? वैसे ही शरीर कभी आत्मा होता नहीं। अपने विकल्प किया करो। क्या होता है? पदार्थ तो जैसे का तैसा ही है। केवल मानने में ही गलती है कि 'इदंम मम' यह मेरी है। उस भूलको मिटादो। शरीरको शरीर और आत्मा को आत्मा जानो। यही तो भेद विज्ञान है। और क्या है? बताओ।

अत उस ज्ञायक स्वभावको वेदन करो सोना जड है वह अपने स्वरूपको नही जानता। लेकिन आत्मा शुद्ध चैतन्य धातु-मय पिंड है, वह उसको जानता है। अब उस ज्ञायक स्वभावमयी आत्मामे जैसे जैसे विशेष ज्ञान हुआ वह उसके लिए साधक है? या बाधक? देखिए जैसे सूर्य मेघ-पटलों से आच्छादित था। मेघ-पटल जैसे जैसे दूर हुए वैसे वैसे उसकी ज्योति प्रगट होती

गई। अब बतलाओ वह ज्योति जितनी प्रगट हुई वह उसके लिए साधक है ? या बाधक ? दरिद्रीके पास पांच रुपये आए वह उसके लिए साधक है ? या बाधक ? हम आपसे पूछते हैं। अरे, साधक ही हैं। वैसे ही इस आत्माके जैसे जैसे ज्ञानावरण हटे, मति श्रुतादिविशेष प्रकट हुए, वह उसके लिए साधक ही है। अत ज्ञानार्जनका निरंतर प्रयास करता रहे।

मनुष्यको पदार्थोंके हटानेका प्रयत्न न करना चाहिए बल्कि उनमे राग द्वेषादिके जो विकल्प उठते हैं, उन्हे दूर करने काप्रयत्न करे। पदार्थोंके हटाने से होगा क्या ? हम आपसे पूछते हैं। मान लिया, स्त्री खराब होती है। हटाओ, उसे कब तक हटाओगे ? नहीं हटी तो बेचैनी बढ़ गई। अत स्त्रीको मत हटाओ उसके प्रति जो तुम्हारी राग बुद्धि लगी है उसे हटाने का प्रयत्न करो यदि राग बुद्धि हट गई तो फिर स्त्री को हटानेमें कोई बड़ी बात नहीं। पदार्थ किसीका बुरा भला नहीं करते। बुरा भलापन केवल हमारे अतरंग परिणामोंपर निर्भर है। कोई पदार्थ अपने अनूकुल हुआ उससे राग कर लिया और यदि प्रतिकूल हुआ उससे द्वेष। किसीने अपना कहना मान लिया तो वाह वा, बड़ा अच्छा है और कदाचित नहीं माना तो बड़ा बुरा है दृष्टिसे विचारो तो वह मनुष्य न तो बुरा है और न भला। वह तो केवल निमित्त मात्र है। निमित्त कभी अच्छे बुरे होते नहीं यह तो उस मनुष्यके आत्माकी दुर्बलता है जो अच्छे बुरे की

कल्पना करता है। कोई कहता है कि स्त्री मुझे नहीं छोड़ती, पुत्र मुझे नहीं छोड़ता, क्या करूं धन नही छोड़ने देता। अरे मूर्ख, यों क्यों नहीं कहता कि मेरे हृदयमे जो राग है वह नही छोड़ने देता। अपना दोषारोपण दूसरोंपर करता है यदि इस रागको अपने हृदयसे निकाल दे तो देखे कौन तुझे नही छोड़ने देता? कौन तुझे विरक्त होनेसे रोकता है? अपने दोष को नहीं देखता। मैं रोगी हू ऐसा अनुभव नही करता। यदि ऐसा ही हो जाय तो ससारसे पार होनेमे क्या देर लगे? यह पूर्व ही कह चुके है कि पदार्थ अपने अपने स्वरूप मे है। कोई पदार्थ किसी पदार्थके आधीन नहीं, केवल मोही जीव ही सशक हुआ उनमे इष्टानिष्टकी कल्पना कर अपने स्वरूपसे च्युत हो निरतर बधता रहता है। अत हमारी समझ मे तो शान्तिका वैभव रागादिको के अभावमे ही है।

ज्ञान की स्वच्छता

अब बतलाते है कि ज्ञान बिलकुल स्वच्छ दर्पणवत् है। जैसे दर्पणमे स्वभावसे ही घटपटादि प्रकाशित होते हैं वैसे ही ज्ञानमे सहजही सम्पूर्ण ज्ञेय झलकते है। अब दर्पणमे घटपटादि प्रतिबिम्बित होते अवश्य हैं, तो क्या घटपटादि उसमे प्रवेश कर जाते है? नहीं, घटपटादि अपनी जगह पर हैं, दर्पण अपने स्वरूप मे है। केवल दर्पणका परिणमन उनके आकार हो गया है। तुमने दर्पणमे अपना मुंह देखा तो क्या तुम दर्पण मे

चले गए ? यदि दर्पणमें चले गए तो यहां सूरत पर जो कालिमा लगी है, उसको वहां दर्पण में क्यों नहीं मिटाते ? अपनी सूरत पर ही कालिमाको मिटाते हो। इससे सिद्ध हुआ कि दर्पण अपनी जगह पर है, हम अपनी जगह पर हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थमे प्रवेश नहीं करता। यह सिद्धात है। ज्ञानका सहज स्वभाव ही स्व-पर-प्रकाशक है। जैसे दीपक अपनेको तथा परको दोनोंको जानता है। स्वभावमे तर्क नहीं चला करता। ज्ञान आत्माका एक विशेष गुण है जैसे अग्नि और ऊष्ण दोनोका अभेदपना है। एक आम है उसमें रूप, रस, गध और स्पर्श ही है। कहा भी है 'स्पर्शरसगधवर्णवन्त पुद्गला' इन चारोंका समुदाय ही तो आम है। अब किसी महान् वैज्ञानिकको ले आइए और उससे कहो कि हमे इसमेसे रूप रस को निकाल दो क्या वह निकाल सकता है ? परन्तु ज्ञानमे वह शक्ति है कि इन्द्रियोद्वारा पृथकरण करके रूपको जाने, रसको जाने और स्पर्श को जाने। ज्ञानमे अचिन्त्य शक्ति है। और वास्तव मे देखो तो ज्ञानके सिवाय कुछ है भी नहीं। मिश्री मीठी होती है, यह किसने जाना ? केवल, ज्ञानने। ज्ञानने पदार्थको बतला दिया कि मिश्री मीठी होती है। अब देखो ज्ञान हीका तो परिणमन हुआ। पर हम लोग ज्ञानको तो देखते नहीं और पदार्थो मे सुख मानते है। ज्ञेयनिश्रित ज्ञानका अनुभवन करते हैं। कोई कहता है कि रूखी रोटी खानेमे अच्छी नहीं लगती। कैसे

अच्छी लगे ? अरे मूर्ख, अनादि कालसे मिश्रित पदार्थोका स्वाद लेता आ रहा है। अच्छी लगे तो कैसे लगे ? दालमें नमक भी है, मिर्ची भी है, खटाई भी है और घी भी डला हुआ है। पर मूर्ख प्राणी तीनोका मिश्रितस्वाद ले रहा है और कहता है बड़ी बढिया बनी है। अब देखो नमक अपना स्वाद बतला रहा है, मिर्ची अपना स्वाद बतला रही है और इसी प्रकार घी अपना स्वाद बतला रहा है और जिसके द्वारा यह जान रहा है उसज्ञानका अनुभव नहीं करता। ज्ञेयानुभूतिमें ही सुख मानता है। यही अनादि काल से अज्ञानकी भूल पड़ी है। ज्ञेयानुभूतिमे ही मगन हो रहा है, ज्ञानानुभूतिका कुछ भी पता नहीं। पर सम्यग्ज्ञानी ज्ञान और ज्ञेय का पृथक्करण करके ज्ञान को जो स्वाश्रित है उसे अपना समझ करज्ञेय जो पराश्रित है उसका त्याग कर देता है। वैसे देखो तो ज्ञेय ज्ञान मे कुछ घुस नहीं जाता। ऊपर ही ऊपर लौटता रहता है पर मोही जीव उसे अपना मान बैठत है। पर सम्यग्ज्ञानी अपनी भेद-विज्ञानकीशक्तिसे निरन्तर शुद्ध ज्ञानका आस्वादन ही करता रहा है। वह ज्ञान किसी पर पदार्थका लेश मात्र भी प्रवेश नही चाहता। ज्ञानी जानता है मेरी आत्मामे ज्ञान लबालब भरा है। इस प्रकार वह ज्ञानमे ही उपादेय बुद्धि रखता है। पर बाबाजी स्वाश्रित और पराश्रित ज्ञान मे बड़ा अन्तर है। हमारा ज्ञान कौन काम का ? अभी आखे बन्द करलो बताओ क्या दीखता है ? अच्छा, आखे भी खुली हैं पर सूर्य

अस्त हो जाय तब अन्धकार में क्या दिखाए ? बताओ ।

अत इन्द्रियजन्य ज्ञान किसी कामका नहीं । ज्ञान तो स्वाश्रित केवल ज्ञान है जिसकी अखण्ड ज्योति निरन्तर प्रज्वलित होती रहती है । हम ऐसी नित्यानन्दमयी ज्ञान-आत्माको विस्मरण कर परपदार्थोंके विषयोंमे सुख मानते है । उन्हीं सुखों-की प्राप्तिमें सारी शक्ति लगा देते हैं। पर उनमें सुख है कहां ? परपदार्थके आश्रित जितने भी सुख है वे सब आकुलतामय हैं । मनमे भोगोंकी आकुलता हुई तो विषयोंमे प्रवर्तन करने लग गए । रूपको देखनेकी आकुलता मची तो सिनेमा चले गए। कानसे रेडियोके गाने सुन लिए । रसनासे व्यञ्जनादिके स्वाद ले लिए । यह रूप रस, गन्ध और स्पर्श के सिवाय और विषय हैं क्या चीज ? हम पुन पुन' वही स्वाद ले लिया करते है जैसे कोल्हू का बैल जहा देखो तो वही । और देखो, इन इन्द्रियजन्य विषयोंका कितनी देरका सुख है ? ओसकी बूंदके समान । अत' इन्द्रियाधीन सुख वास्तविक सुख नहीं । पर होते हैं बाबाजी बडे प्रबल । इनका जीतना कोई सामान्य बात नहीं है ।

इन्द्रिय-विषयों की प्रभुता

एक मनुष्य था भइया । उसने एक स्थान पर यह चरण लिखा :—

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपिकर्षति'

अर्थात् इन्द्रियोंके विषय बड़े बलवान होते है, विद्वानों तक को आकर्षित कर लेते है। उसी स्थान पर एक साधु आया और उसने प्रथम चरणको पढ़कर दूसरा चरण लिख दिया कि ज्ञानीको इन्द्रिय-विषय आकर्षित नहीं करते। जब उस मनुष्यने पढ़ा तो उसने उस साधु की परीक्षा करनी चाही। एक बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की और खूबसूरत स्त्री-वेष बनाया—वही नैन मटकाना, कटाक्ष करना, हाव-भाव बतलाना और मय सगीत-साज बाज लेकर उसी वनमे पहुँची, जहाँ वह साधु रहता था। साधुने कहा यहा क्यों आई है? हम मनुष्यों तक को अपने पास नहीं फटकने देते, तू तो स्त्री है। जाओ यहा से चली जाओ।' तब वह स्त्री बोली महाराज मैं एक अबला हू। सन्ध्या हो गई, रात्री होने वाली है। आगे सिंह-व्याघ्रादि जानवरो का भी डर है। मैं तो एक तरफ पड़ी रहू गी।' उस साधुने बहुत हट किया, पर वह नही मानी। अन्तमे वह साधु अपनी कुटियामे चला गया। बाहरसे उस स्त्रीने सकल लगादी। जब अर्ध-रात्रिका समय हुआ और जो उसने मिष्ट स्वरो से आलाप भरा तो उसी समय साधुके काम-वासना जागृत हो गई। स्त्री का रूप और हास-विलास तो पहिले देखा ही था और अर्ध रात्रिका समय भी सुहावना था। उसने तुरन्त दरवाजेके किवाड़ खटखटाए। स्त्री बोली क्या बात है? साधुने कहा 'अरे सकल तो खोल।' उसने नहीं खोली और कहा कि पहिले बात बताओ। साधु बोला 'जरा पेशाब

लगी है।' स्त्री बोली 'ऊँहूँ', वहीं किसी वर्तन में करलो।' परन्तु साधुके निरन्तर कामज्वर बढही रहा था, अन्त मे छप्पर फाड़ के निकल आया। उसी समय तुरन्त उस मनुष्य ने वास्तविक स्वरूप प्रकट कर लिया और कहा—'क्या वह चरण सत्य नहीं है? क्या इन्द्रिय-ग्राम ज्ञानी को आकर्षित नहीं करते।' साधु बड़ा लज्जित हुआ और बोला इस चरणको स्वर्णाक्षरोंमे लिखदो पंचेन्द्रियके विषय बडे बडे विद्वानोंको फसा लेते हैं पर वीतरागियों को सुलभ हैं। पर विचारो तो, इन्द्रियाधीन सुख शाश्वत नहीं, विनाशीक है, सुखाभास है। सहज शाश्वत सुख तो केवल आत्मा के अनुभव मे ही है। जिस प्रकार विषयादि सुख आत्माके नहीं उसीप्रकार क्रोधादि विभाव-परिणाम भी आत्मा के नही हैं। यदि आत्माके होते तो काहे को पीछेसे हाथ जोड़ते' भूल होगई, माफ करो।' इससे साबित होता है कि क्रोधादि विभाव भाव भी आत्मा के नहीं है। औदयिक है, मिटने वाली चीज है। पर क्षमा आत्माकी चीज है, वह निरन्तर बनी रहती है। अत आत्माको निर्मल बनाओ। अभिप्रायको साफ रखो। यदि किसीके थप्पड़ मार दे तो बुरा लग जाय और कहीं पैर दबाने लगजाय तो प्रसन्न होजाय! तो सब अन्तरंग के परिणामों की कीमत है। गतियों मे गमन भी परिणामानुसार ही होता है।

एक मुनिराज शिलापर ध्यान लगाए बैठे थे। उसी समय सिंह खानेको दौड़ा। उधरसे शूकर भी मुनिराजके बचानेके

अभिप्रायसे दौड़ा। उनमें भयकर युद्ध हुआ। दोनों प्राणान्त हुए। एक स्वर्ग गया और दूसरा नरक पहुंचा। परिणामोंकी निर्मलता-का ही तो यह फल है। शुद्ध परिणाम ही मोक्षमें साधक है, इसमे सदेह नहीं।

शुद्ध चेतना के अवलम्बन

अब कहते हैं कि मनुष्य को एक शुद्ध चेतना का ही आलम्बन है। वह टकोत्कीर्ण-टांको से उत्कीर्ण फूलके समान-एक शुद्ध भाव है। वह निर्विकार एव निर्विकल्प एक शुद्ध ज्ञान घन है। उसमे किसी भी प्रकारकी सकरता नही। बाह्यमे अवश्य दोनों (पुद्गल और जीव) का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो रहा है पर किसीका एक प्रदेश भी किसीमें प्रविष्ट नही होता। जैसे चार तोला सोना है और उसमे चार तोले चाँदी मिलादी, इस तरह वह आठ तोलेकी चीज बन गई। उसे सर्राफके पास बेचने ले जाओ, तो क्या वह तुम्हे आठ तोलेके दाम दे देगा? नही। वह तो चार तोले ही की कीमत करेगा, परन्तु जो नहीं जानने वाले है उनको वह आठ तोले ही दिखाती है। वैसेही आत्मा और पुद्गल का एकमेक होनेसे ज्ञानी को तो एक शुद्ध आत्मा ही है अज्ञानीको वह मिश्रित। अब देखो, बाह्य मे सोना और चाँदी बिलकुल मिली हुई दिखती है पर विचारो सोना अलग है और चाँदी अलग है। सोनेका परिणमन सोने मे होरहा है और चाँदीका परिणमन चाँदीमे। सोनेका एक

चावल चांदी मे नहीं जाता और चादीका एक चांवल सोनेमें नहीं आता। वैसे ही आत्मा अलग है और पुद्‌गल अलग है। आत्माका परिणमन आत्मामे होरहा है और पुद्‌गल का परिणमन पुद्‌गलमे। आत्मा का चतुष्टय जुदा है, पुद्‌गलका चतुष्टय जुदा है। आत्मा की चेतनता पुद्‌गलमे नही जाती और पुद्‌गलकी जडता आत्माभे नही आती। पर व्यवहारमे देखलो एक सी दिखाती है। और जब उस सोने चादीको तेजाबमे डाल दिया तो सोना सोना रह जाता है, चाँदी चादी रह जाती है। वैसे ही तत्वदृष्टिसे विचारो तो आत्मा आत्मा है और पुद्‌गल पुद्‌गल ही है। कोईका किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं। चेतनमे जडका क्या काम? अब देखिये शरीर पर कपडा पहिना तो क्या कपडा शरीर मे प्रवेश कर गया? उस जीर्ण वस्त्रको उतार कर दूसरा नवीन वस्त्र पहिन लिया। वैसे ही आत्मा ८४ लाख योनियोंमे पर्याय मात्र बदल लेती है। कोई कहे कि इस तरह तो आत्मा त्रिकाल शुद्ध हुई। उसमे कुछ बिगाड़ भला होता नही, चाहे अब कुछ भी करो। पर ऐसा नहीं। नय-प्रमाणसे पदार्थोंके स्वरूप को समझनेका यत्न करो। द्रव्य-दृष्टिसे तो वह त्रिकाल सर्वथा शुद्ध है पर वर्तमान पर्याय उसकी अशुद्ध ही माननी पड़ेगी। अन्यथा ससार किसका?

ऐ भइया, जो तुम पूजा करते हो तो भगवान् से कहते हो न?

तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पदद्वये लीनं।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद् यावन्निर्वाणसम्प्राप्ति ॥

हे भगवन ! तेरे चरण मेरे हृदयमे निवास करें और मेरा हृदय तेरे चरण-कमलमे। कब तक ? जब तक निर्वाणकी प्राप्ति न हो। यदि आज ही निर्वाण हो जाय तो नहीं हो। और कहा हैं –

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति सगति सर्वदार्य्यै।
सद्वृत्तानाँ गुणगणकथा दोषवादे च मौन ॥
सर्वस्यापि प्रियहितबचो भावना चात्मतत्वे।
संपद्यन्ता मम भवभवे यावदेतेऽपवर्ग ॥

हे भगवन ! अपवर्ग कहिए मोक्षको जबतक प्राप्त न करूं तबतक शास्त्रका अभ्यास, जिनेन्द्रदेव की सेवा और अच्छी सगति मिले। सदवृत्ति है जिनकी ऐसे पुरुषोंका गुणगान करू, पराए दोषोंके कहनेमे मौन होजाऊ। सुन्दर हित-मितके बचन बोलू तो जभी तक न जब तक मोक्ष न हो जाय। इससे मालूम पड़ता है कि उस शुद्धोपयोगमे शुभोपयोगकी भी आवश्यकता नहीं है। अरे, जभीतक सीढी चढूँ न जब तक शिखर पर न पहुचूं। शिखर पर पहुँच गए तो फिर सीढियों की क्या आवश्यकता ? बताओ। तो सम्यग्दृष्टिका लक्ष्य केवल शुभोपयोगमे ही रहता है। वह पूजा दानादिमे प्रवर्तन करता है अशुभोपयोगकी निवृत्तिको लाने। उपयोग तो कहीं न कहीं जायगा ही। पर क्या करे-जब तक

शुद्धोपयोगकी प्राप्ति नही हुई तब तक शुभोपयोग रूपही प्रवर्तता है। यदि आज ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति होजाय तो आज ही त्याग दे। तो भइया, शुभोपयोग और अशुभोपयाग दोनों हेय हैं। इसका यह मतलब नहीं कि हम शुभोपयोग न करें।शुभोपयोग करो—इसका कौन निषेध करता है? शुभोपयगोको त्यागनेसे शुद्धोपयोग नही होता, किन्तु शुभोपयोगमे जो मोक्षमार्गकी कल्पना कर रक्खी है, उसके त्याग और राग-द्वेष की निवृत्तिसे शुद्धोपयोग होता है और यही परिणाम मोक्ष-मार्ग का साधक है। पर कुछ लोग अपनेको शुद्ध-बुद्ध और निरजन समझ कर स्वेच्छाचारी होजाते है और शुभकी जगह अशुभमे प्रवर्तन करने लग जाते है और फिर अपने को सम्यग्ज्ञानी मानते है, भइया यह बात तो हमारी समझ मे नही आती। तत्व दृष्टिसे विचार करो, क्या वह सम्यग्ज्ञानी होजायगा? जो ज्ञानी पुण्यको भी हेय समझे क्या वह पापमेप्रवर्तन करेगा? कदापि नहीं। मल्लजी साहबने अपने मोक्ष मार्ग-प्रकाश मे एक स्थान पर लिखा है —

सम्यग्दृष्टि स्वयमयमह जातुबन्धो न मे स्या।
दित्युत्तानोत्पुलक वदना रागिणोऽप्याचरन्तु॥
आलम्बन्ता समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा।
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वशून्या॥
स्वयमेव यह मै सम्यग्दृष्टि हू, मेरे कदाचिद्

बध नाहीं ऐसे ऊँचा फुलाया है मुख जिनने ऐसे रागी वैराग्य

शक्ति रहित भी आचरण करे है, तो करो, बहुरि पंच समितिकी सावधानीको अवलंबे हैं, तौ अवलबौ, ज्ञानशक्ति बिना अजहू पापी ही है। ए दोऊ आत्मा अनात्माका ज्ञानरहितपनातै सम्यक्त्वे रहित ही है। एक जगह लिखा है.--

तिलतैलमेव मिष्ट येन न दृष्ट घृत क्वापि ।
अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीय ॥

हम लोगोने तेल ही तेल खाया है, घी नहीं। इसलिये घीके स्वादको जानते ही नहीं। वैसे ही शुद्धोपयोगके बिना जो शुभोपयोग उसके द्वारा प्राप्त जो इन्द्रियाधीन सुख उसकोही हमने वास्तविक सुख समझ रक्खा है। ऊंटको कडुवा नीम ही अच्छा लगता है, वह गन्ने को बुरासमझता है। 'जिन नहीं चाखी मिसरी उनको कचरा मिट्ठा'। अत शुभोपयोग मोक्षका कारण नहीं। मोक्षका कारण केवल शुद्धोपयोग ही है नोकाको मत त्यागो देखै, कैसे पार पहुच जाओगे ? पार पहुँचनेके लिए नौका त्यागनी ही पडेगी। वैसे ही शुभोपयोगमे रह कर ही यदि मुक्ति चाहो तो कदापि प्राप्ति नहीं होसकती। मुक्ति प्राप्ति के लिए शुद्धोपयोगका आश्रय ग्रहण करना होगा। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे कोई मनुष्य शिखरजीकी वन्दनाके वास्ते गया। चलते चलते वृक्षकी छाया मिल गई। वहा उसने किंचित् विश्राम किया। वहा से चलकर वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया। फिर वह कहता है कि मुझे छायाने वहा पहुँचा दिया अरे, छायाने वहा

नही पहुँचाया, पहुँचाया तो उसकी चालने। छाया केवल निमित्तमात्र हुई। वैसे ही शुभोपयोगने मोक्ष नही पहुंचाया। पहुचाया तो शुद्धोपयोगने, पर व्यवहारसे कहते हैं कि शुभोपयोगने मोक्ष पहुचाया। पर तत्त्वदृष्टिमे विचारो तो शुभोपयोग ससारहीका कारण है; क्योंकि उसमे राग का अश मिला हुआ है।

सम्यक्त्वी भगवानके दर्शन करता है पर उस मूर्ति मे भी वह अपने शुद्ध स्वरूपकी ही झलक पाता है। हम भगवानके दर्शन करते है तो हमे उनके दर्शनज्ञान और चारित्र ही तो रुचते है और है क्या? क्योंकि जो जैसा अर्थ चाहता है वह उसी अर्थीके पास जाता है जो धनका अर्थी होगा वह धनाढ्योंकी सेवा करेगा। वह हम सरीखोंके पास क्यों आवेगा? और जो मोक्षार्थी होगा वह भगवान्की सेवा करेगा। हमे भगवान्के दर्शन ज्ञान और चारित्र रुचते है, जब तो हम उनके पासजाते ही हैं।

कहनेका तात्पर्य्य यह है कि सम्यक्त्वीका लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग पर रहता है लेकिन फिलहाल वह शुद्धोपयोगपर चढ़नेके लिये असमर्थ है इसलिए शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है पर अन्तरगमे जानताहै कि यह भी मेरी शान्ति-मार्गमे बाधा उपस्थित करनेवाला है। अब शुभोपयोगसे स्वर्गादिककी प्राप्ति हो जाय तो इसमे उसके लक्ष्यका तो दोष नही है।

देखिए, मुनि तपश्चरणादिक करते हैं जिससे उन्हें स्वर्गादिक मिल जाता है। परतपका कार्य स्वर्गकी विभूति दिलाना तो नहीं है। उसका काम तो मुक्तिरमा से मिलाना है। चूंकि उस तप से वह मुनि शुभोपयोगकी भूमिको स्पर्श नहीं करसका इसलिए शुभोपयोग द्वारा स्वर्गादिककी प्राप्ति हो गई। जैसे किसान का लक्ष्य तो बीज बोनेमे धान्य उत्पन्न करना है पर उससे घास फूसादिकी प्राप्ति स्वयमेव होजाती है। एतावन् शुभोपयोग होनेसे स्वर्गादिक मिल जाता है। अरे भइया, स्वर्गोमें भी क्या धरा है? तनिक वहा ज्यादा भोग हैं। कल्पवृक्षोंकी छाया है। यहां ईंट चूनेके मकान है वहा हीरे-कचनके प्रासाद हैं। और क्या? ज्यादासे ज्यादा वहा अप्सराओंके आलिंगनका सुख है, सो भी क्षणिक और अन्तत दुखदायी। लेकिन अनुपम, अलौकिक, अतीन्द्रिय सच्चा शाश्वत सुख तो सिवाय अपनी आत्माके और कही नहीं है। यह निश्चय है।

अत हमको प्रथम अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए। सम्यक्त्वीकी श्रद्धाकी ही तो महिमा है। वह जान जाता है कि मोक्षका मार्ग यही है। उसकी गाड़ी लाइनपर आजाती है। तो हमको उस तरफ लक्ष्य रखना चाहिए। अब देखिए, हम रुपया कमानेमे कितना उद्योग करते हैं। कठिनसे कठिन सवालोंकी गुत्थियाँ भी सुलझा लेते हैं; क्योकि उस तरफ हमारा लक्ष्य है।

प्राय. लोग सोचते हैं—क्या करें, मोक्षमार्ग तलवारकी धार है। मुनिव्रत पालना बड़ा कठिन है। परीषह सहना बहुत मुश्किल है। तो हम तिलको ताड़ तो पहिले ही बना देते हैं। मोक्ष कैसे पहुंचेंगे ? अरे भाई, मोक्षमार्गके सन्मुख तो होओ। उस तरफ तनिक दृष्टिपात तो करो। एकाध व्रतके पालने का अभ्यास तो करो। जैसे कोई व्यक्ति जहाजपर चढ़कर बम्बई पहुचता है, कोई रेल मे बैठकर पहुंचता है कोई घोड़ा-गाड़ीमें पहुचता है और जिस पर घोड़ा-गाड़ी नहीं है तो वह पैदल ही पहुंचता है। उसी तरह मोक्ष-मार्गके सन्मुख होना चाहिए फिर तो वहातक पहुचनेमें कोई बाधा नहीं। कभी न कभी वहा तक पहुच ही जाएँगे; पर उस तरफ दृष्टि रखनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टिकी उसतरफ उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी श्रद्धा पूर्णरूपेण मोक्षकी ओर सन्मुख हो जाती है। अब चारित्र मोह है सो क्रमश: धीरे धीरे गल जाता है। वह उतना घातक नहीं जितना दर्शन-मोह। जब फोडे में से कीली निकल गई तो वह घाव धीरे धीरे भर ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य को प्रथम अपनी श्रद्धाको सुधारनेका पूर्णप्रयत्न करना चाहिए। अब देखिए, जब लड़की विदा होती है तब वह रोती है, चिल्लाती भी है बाह्यमे सब क्रियाएँ करती है पर जानती है कि मेरा

तो पति गृह है। माता भाई कुटुम्बका कोई व्यक्ति मेरा नहीं। मनमे निश्चयसे जानती है कि मुझे तो वही पहुँचना है। वैसे ही सम्यक्त्वीको केवल वही रटना लगी रहती है।

'आत्मानुशासन'में गुणभद्राचार्य ने लिखा है कि एक शिष्यने आचार्य महाराजसे पूछा पुण्य-बंध नरकका कारण है। यह सूधी मूधी बात क्यों नहीं कहते? क्योंकि पुण्यसे विषय सामग्री जुटती है और विषयो के मिलनेसे भोगनेकी इच्छा होती है। भोगनेसे अशुभ कर्म-बंध पडता है और इस तरह नरक जाना होता है आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं, पुण्यनरकका कारण नहीं है। पुण्यका तो काम विषय सामग्री जुटा देना मात्र है परन्तु तुम्हारी पदार्थके भोगनेमे जो आसक्ति है वह नरकका कारण है, न कि पुण्य। पदार्थोंके भोगनेमे तो कोई आपत्ति नहीं पर उसमें लिप्त मत होजाओ। अत्याशक्ति ही नरक का जननी है। 'आश्रयेत् मध्यमावृत्ति मति सर्वत्र वर्जयेत्' पं० आशाधरजीने एक स्थानपर लिखा हैकि विषय को अन्नकी तरह सेवन करे। यदि अन्न ज्यादा खा लिया जाय तो अजीर्ण हो जाय उसी तरह विषयों को अधिक सेवनकरो तो मरो तपेदिक में। बुलाओ डाक्टरको। देखो आचार है उसमे 'अति' लगादो तो अत्याचार हो जाय।

एक स्त्री थी। उसके बहुत लम्बे बाल होगए। पर वह प्रमादिनी थी, तो कभी उनको साफ न करे। साफ करे तो अच्छे लगे। उसके पतिने उससे कहा कि इनको साफ कर लिया कर।

पर हठी होनेकी वजहसे कहना नहीं माना और आखिरकार उसके जू पड़ गईं। तब दुखी देखकर उसके पतिने कहा क्या है ? बाल कटवा डाल। उसने वैसा ही किया और वह बदसूरत लगने लगी। एक दूसरी स्त्रीने उससे पूछा — सखी ! क्यों बाल कटवा दिए ? वह स्त्री बोली—जू पड गई थी। तो वह बोली—अरी मूरखनी, उन्हें धोती क्यों नहीं थी ? अगर धो लेती तो काहेको कटानेकी नौबत आती ? इसी तरह यदि भोगोंमे अत्यासक्त नहीं होते तो भइया काहेको नरक जाते। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थों में अति आसक्ति ही दुर्गतिका कारण है।

तुम्हारी जिन पदार्थोंमे रुचि है तभीतो ग्रहण करते हो। और परिग्रह क्या है ? मूर्छा परिग्रह। मूर्छा ही का नाम परिग्रह है। तुम्हारी भोजनमे रुचि है तभी तो खाते हो। माको बच्चेसे मूर्छा है इसलिए तो लालन-पालन होता है। इस लँगोटीसे हमे मूर्छा है तभी तो रखे है तुम्हे घर-गृहस्थी मे मूर्छा है तभी तो फसे हो। यदि मूर्छा नही है तो फिर होजाओ मुनि। एक मुनि है, उन्हे मूर्छा नहीं है तो बताओ कौन लगोटी सभाले ? संभालने वाली चीज थी वह तोमिट गई। और तो और, एक लगोटी राड ऐसी है जो मोक्ष नहीं होने देती। सोलह स्वर्ग से आगे जाने नहीं देती।

एक मनुष्यने किसी को कुछ रुपये देने का वायदा किया और उसने कहा घर चलकर दूंगा । मार्गमें आते आते बीचमें मुनि का समागम होगया और उपदेश पाते ही वह मुनि होगया । अब बताओ रुपया कौन देवे ! अरे देने वाली चीज थी वह तो मिट गई । अत वह चीज जब तक बनी है तभी तक ससार है । जहा तक बने परपदार्थोंसे मूर्छा हटानेका प्रयत्न करो । जितनी पदार्थो से मूर्छा हटेगी उतनी ही स्वात्मा की ओर प्रवृत्ति होगी । लोग कहते है कि जितने यह धनाढ्य पुरुष है, उन्हें बड़ा सुख होगा मैं तो कहूगा कि उन्हें हमसे भी ज्यादा दुख है । जिस पर परिग्रह का भूत सवार है उन्हें तुम चाहो सुखी होगे । तीन काल मे भी नहीं । मनुष्य के जितना जितना परिग्रह बढ़ता जायगा उसका उतना दुख भी दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता जायगा और जितना कमहोगा उतना ही सुख झलकेगा ।

एक मनुष्यके पास गीता थी । उसके एकमात्र यही परिग्रह था । वह उसको रोज कपड़ेमे लपेट कर अलमारीमे रख देता था अचानक एक मूषक आता और उस कपडेको कुतर जाता । वह मनुष्य बड़ा परेशान था । उसनेसोचा यदि मूषकके लिए एक बिल्ली रख ली जाय तो बड़ा अच्छा हो। अतः उसने एक बिल्ली पाल ली । अब बिल्ली के लिए दूध चाहिए तो एक गाय मोल

लेनी पड़ी ! अब उस गायकी रखावालीके लिए कोई चाहिए, नहीं तो पठनपाठन कैसे हो ? अत: उसकी रखवालीके लिए एक दासी रक्खी। दासीसे उसका सम्बन्ध होगया। बाल बच्चे होगए। अब वह एक बच्चेको पीठ पर बिठाए और दूसरेको गोदीमे लिए इसी आर्त-रौद्र ध्यान मे फस गया। पूजा पाठ सब विस्मरण कर दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि एक परिग्रहकी लालसा करनेसे देखलो वह पूरा गृहस्थी हो गया। पूजा-पाठ जो करता था वह सब जाता रहा प्रत्युत खोटे ध्यानमे फंसकर दुखी हो गया। अत यदि मोक्षकी ओर रुचि है, सुखकी कामना है तो परिग्रह को वश करनेका प्रयत्न करे। इच्छाओं पर कन्ट्रोल रखे एक मनुष्य ने भूखेको रोटी दान किया। नगेको कपड़ा दिया, निराश्रयो को आश्रय दिया और उसे सुख हुआ। वह सुख उसे कहा से हुआ ? सुख तो उसे अवश्य हुआ। उस सुखका वह अनुभव भी कर रहा है। तो वह सुख उसका अन्तरंग से उमड़ा। उसने बिना किसी स्वार्थ के परोपकार बुद्धिसे ऐसा किया जिससे उसे इच्छाओ कषायों की मदता करनी पड़ी इसलिए उसे सुख हुआ। तो पता चला कि जब इच्छाओ कषायों की मंदता मे उसे सुख मिला तो जिनके इच्छाओ कषायो का पूर्ण अभाव होजाय और यदि उसे विशेष सुख मिले तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बडी बात है ? जितनी मनुष्य के पास इच्छाएं हैं उसके लिए उतने ही रोग है। एक इच्छाकी पूर्ति होगई तो वह रोग

कुछ देरके लिए शान्त होगया और उसने अपनेको दुखी मान लिया। पर परमार्थ दृष्टिसे विचारो ! क्या वह सुखी होगया ? आज सुबह रोटी खाई, शाम को फिर खानेकी जरूरत पड़गई। इससे मालूम होता है कि इच्छाओं में सुख नहीं है।

एक मनुष्यके आलूका त्याग था। दूसरे मनुष्य ने उससे कहा—अबे, क्यों त्यागता है ? कहां त्यागमें भी सुख मिला है ? वह मनुष्य तो चुप ही रहा। इतने ही में एक और आदमी आगया। उसने कहा—भाई ! त्यागमें क्यों सुख नहीं है ?' उस मनुष्यने जवाब दिया कि 'परमात्माने जितने भी पदार्थ संसारमें रचे हैं, वह भोगनेके ही लिए हैं। भोग विलास जब तक श्वास।' उन दोनों में खूब वाद विवाद हुआ। अन्ततोगत्वा यह निर्णय हुआ कि इच्छाओं में ही दुख है। जितनी जिसके पास इच्छाएँ हैं उतना ही उसे दुख है। उस आदमीने कहा अच्छा यदि एक इच्छा किसीके कम होजाय तो उसे सुख होगा कि नहीं। उसने कहा हां, कुछ सुख होगा। फिर उसने कहा यदि किसीके एक मात्र लंगोटीकी इच्छा रह जाय तो वह उससे ज्यादा सुखी है कि नहीं ? उसने जवाब दिया वह उससे भी ज्यादा सुखी है। फिर उसने कहा यदि किसी के पास कुछ भी इच्छा न हो, दिगम्बर हो जाय, वह कितना सुखी है। तो वह बोला

कि वह सबसे ज्यादा सुखी है। बस, परिग्रह त्याग का मतलब ही यह होता है कि इच्छाओं को कम रखना। संसारमे ही देखलो, राजाकी अपेक्षा एक सन्त ज्यादा सुखी है। अत हमारी समझ मे तो जिसने अपनी इच्छाओं को वश कर लिया वही सुखी है। विशेष तो कुछ हम जानते नहीं।

उदयशंकर था। वह स्त्रीमे पूर्ण आसक्त था। एक दिन उसका साला स्त्रीको लेनेके वास्ते आया। जब वह मायकेको जाने लगी तब आप भी उसके साथ हो लिया। मार्गमे चलते चलते एक मुनिराज मिले जो एक शिला पर शान्ति मुद्रासे ध्यान लगाए तिष्ठे थे। मुनिको देखतेही उसका हृदय शान्त होगया। और उनके पास पहुंचकर बन्दना मे ही मगन हो गया। उधरसे उसका साला यह सब देख रहा था। वह पास आकर बोला क्या तुम मुनि होगए? उसने कहा—यदि हम मुनि हो जावे तो तुम भी मुनि हो जावोगे। सालेने सोचा जो पुरुष स्त्रीका इतना लपटी है वह क्या मुनि होगा? वह बोला अच्छा तुम हो जाओ तो मै भी हो जाता हूं। ऐसा कहना था कि झट उसने कपड़े उतार कर फेंक दिये और दीक्षा ले ली। अब वह साला क्या करता, आखिर उसे भी मुनि होना पडा। दूरसे स्त्री खड़ी हुई यह तमाशा देख रही थी। वह विचार करने लगी पति भी मुनि होगया, भाई भी होगए। अब मै गृहस्थीमे रहकर ही क्या करूंगी? अन्त मे वह भी अर्जिका हो गई। यह सब क्या है? परिणामों की ही

तो विचित्रता है। मनुष्यके परिणामों के पलटनेका कोई समय नियत नहीं, न मालूम किसके कब भाव पलट जाए, कोई नहीं कह सकता।

प्रद्युम्नकुमार जब विरक्त हुआ तो सारी सभा मे जहांपर वसुदेव वासुदेव और बलभद्र आदि बैठे हुए थे कहता भया—न हम तुम्हारे हैं, और न तुम हमारे। तुम हमारे शरीरके पिता थे और हम तुम्हारे पुत्र। आज हम ससारसे उदासीन हुए हैं। वासुदेव कहने लगे—'अबे क्या बकता है, कलका छोकरा हमको समझाने आया है।' फिर प्रद्युम्नजी बोले—अच्छा तो तुम्हीं यहांके खंभ बने रहो। अब हम तो जाते हैं। रनवास मे आकर स्त्रीसे बोले—हम तो दीक्षा लेते हैं। स्त्री बोली तुम यहा आये क्यों? क्या यहा लड़के का विवाह था। या लडका का? तुम दीक्षा ग्रहण करो या मत करो। मैं तो यह लो आर्यिका होगई। दासीसे कहा लाओ सफेद धोती।' तो यह सब परिणामोंकी ही महिमा है। कहते है चक्रवर्ती छ: खडका अधिपति था। पर जब विरक्त हुआ तो सारी विभूतियोंपै लात मार दी कि मुह फेर कर नहीं देखा। परिणामोंमे जब विरक्तता समा जाती है तो दुनियाँ की ऐसी कोई शक्ति नही जो मनुष्यके हृदय को पलट दे उसे विरक्त होनेसे रोक ले। इसीलिए कहा है 'सम्यक् परिणामों की सबलता ही मुक्ति-रमासे मिलानेवाली दूती है।'

प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें लिखा है कि एक मनुष्य को जब वैराग्य उत्पन्न हुआ तो उसने सकल स्वजनोंको बुलाकर कहा:-

"अहो इदं जन शरीर-जनकस्यात्मन् अहो इदं जन शरीर जनन्या आत्मन् अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं तत् इममात्मानं युवां विमुञ्चतं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञान-ज्योति आत्मानमेवात्मनो अनादिजनकमुपसर्पति।

अपने पितासे कहता है कि देखो तुम हमारे शरीरको पैदा करनेवाले हो, हमारी आत्मा के नहीं। अब हमे वैराग उत्पन्न हुआ है तुम हमे मत रोकना। पुत्र को बुलाकर कहता है कि देखो बेटा, न तो हम तुम्हारे पिता हैं और न तुम हमारे पुत्र माता का रुधिर और हमारे वीर्यसे यह तुम्हारा शरीर उत्पन्न हुआ है। तुम्हारी आत्मा बिलकुल स्वतन्त्र है। अत. हमे वैराग हुआ है तो हमसे ममत्व भाव छोडो। अपनी स्त्रासे आकर कहता है देखो तुम हमारे शरीरको रमण करने वाली थीं। हमारी आत्माको नहीं। और हम भी तुम्हारे शरीर को रमण करने वाले थे। अत हमे वैराग्य हुआ है तो तुम बीचमें मत पड़ना। अब यह दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और वीर्य इन पंचाचारों से सहित नि शल्य हुआ एक अखण्ड टकोत्कीर्ण शुद्धात्मा को ध्याता है।

अत मनुष्यके लिए एक शुद्धात्माका ही अवलम्बन है।

उसीके लिए देखो यह सारा प्रयास है। और परिणामोंमें जितनी चंचलता होती है, यह सब मोहोदयकी कल्लोल माला है। इसमे कोई काम क्रोधादि विकारी भाव नहीं। यदि क्रोध आत्माका होता तो फिर क्यों कहते कि हमसे गलती हो गई, क्षमा करो। इससे मालूम होता है कि वह तुम्हारी आत्मा का विभाव भाव है।

एक मेहतरानी किसी स्थानपर झाड़ू लगा रही थी। निकट ही एक तापसी बैठा था। झाड़ू लगाते समय कुछ धूल के कण उस तापसी पर भी पडे। वह तुरन्त ही क्रोधित हो गया और बोला—'ए मेहतरानी! क्या करती है?' वह बोली—झाड़ू लगाती हूँ।'

'तुझे दिखता नहीं है।'

'तुझे तो दिखता है'

'अरी, बड़ी चांडालनी है'

'अरे, मेरा पति तो तेरे घट मे बैठा है'

'क्या बकती है?'

'ठीक कहती हूँ,

इतने मे दस पांच और आदमी इकट्ठे होगए। दोनोंमे खूब वाद विवाद हुआ। अन्त मे उससे मेहतरानी ने कहा—'देखो चांडाल क्रोध तुम्हारे घटमे बैठा है या नहीं।'

कोई कहता है कि हमें क्षमा नहीं आती। बहुत शास्त्र पढ़ते हैं, सभामे श्रवण भी करते हैं, पर क्षमा मालूम ही नहीं पड़ती। मैं तो कहता हूं कि क्षमा तीन कालमें नहीं आसकती। चाहे खूब माथा-पच्ची करो। बडे बड़े लम्बे पोथंगे शास्त्रों को वाच डालो, क्षमा यों कदापि नहीं आसकती। हां, क्रोध छोड़ दो, क्षमा स्वत आ जायगी। क्षमा कहीं शास्त्रों मे नही धरी, वह तो आत्म की चीज है और आत्माकी चीज आत्मा मे ही मिल सकती है। कवल क्रोध छोड़नेकी आवश्यकता है।

लक्ष्मण परशुराम सवादमे परशुराम लक्ष्मण से कहते हैं कि हटजाओ मेरे सामने से।' तब लक्ष्मण उत्तर देते हैं 'मूँदहु आंख कतहु कोऊ नाहीं। कर विचार देखहु मन माहीं।' आँख मीच लो कोई यहा नहीं है। तो बस आख मीच लो। हमारे कोई राग-द्वेष नहीं। राग-द्वेष तो आत्मा के विभाग भाव हैं। उनको हटा दो। अरे, अग्निका संयोग पाकर के जल में उष्णपना है। जलको ठडा करनेकी आवश्याकता नहीं है, किन्तु उसका ऊष्णपना मिटादो। जल स्वतः ठंडा हो जायगा। वैसे ही आत्माको शुद्ध स्वभावमे लाने की चेष्टा मत करो बल्कि विभाव भावों को मिटादो। आत्मा स्वत अपने स्वभावमें आ जायगी। अत. राग-द्वेष को हटानेकी आवश्यकता है। इसप्रकार स्वात्मा के शुद्ध स्वरूपकी भावना करता हुआ सम्यग्ज्ञानी आगामी कर्म

बन्धनमें नहीं पड़ता है। अब बचे पूर्वबद्ध-कर्म वह तो अपना रस देकर खिरेंगे ही उसको यो चुटकियों मे भोग लेता है। इसतरह यह मोक्षार्थी पथिक मुक्तिके पथपर निरंतर अग्रसर होता हुआ अपनी मंजिलका मार्ग तय कर लेता है और सदा के लिए शास्वत सुखमें मगन हो जाता है।

आगे सम्यक्त्वका विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि वास्तवमे एक टकोत्कीर्ण अपनी शुद्धात्मा को ही अपनाता है। वह किन्हीं पर-पदार्थों पर दृष्टिपात नहीं करता। अरे, जिसके पास सूर्यका उजाला है, उसे दीपककी क्या आवश्यकता ? उसकी केवल एक शुद्ध-दृष्टि ही रहती है। और ससारमे ही देखा—पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म और खान-पान के सिवाय है क्या ? इसके अतिरिक्त और कुछ है तो बताओ। सब कुछ इसी मे गर्भित है।

अब बतलाते है कि भोग तीन तरह का होता है—अतीत, अनागत और वर्तमान। सम्यदृष्टि के इन तीनो मे से किसीकी भी इच्छा नहीं होती। अतीत मे जो भोग भोग लिया उसकी तो वह इच्छा ही नहीं करता। वह तो भोग ही चुका। अनागत मे वह वांछा नहीं करता कि अब आगे भोग भगूगा और प्रत्युत्पन्न कहिए वर्तमान मे उन भोगों को भोगने मे कोई राग बुद्धि नही है। अत इन तीनो कालोंमे पदार्थोंके भोगनेकी उसके सब प्रकार

से लालसा मिट जाती है। अतीतमें भोग चुका, अनागतमें वांछा नही और वर्तमानमें राग नही तो बतलाओ उसके बंधहोय तो कहासे होय ? क्या सम्यग्दृष्टि भोग नहीं भोगता? क्या उसके राग नही होता ? राग करना पडता है पर राग करना नहीं चाहता। उसको रागमे उपादेय बुद्धि मिटजाती है। वह रागको सर्वथा हेय ही जानता है। पर क्या करे, प्रतिपक्षी कषाय जो चारित्रमोह बैठा है उसका क्या करे ? उसको उदासीनतासे सहन कर लेता है। उदयमे आओ और फल देकर खिर जाओ। फल देना बंध का कारण नहीं है। अब क्या करे जो पूर्व-बद्ध कर्म है उसका तो फल उदयमे आएगा ही परन्तु उनमे राग द्वेष नहीं। यदि फल ही बंधका कारण होता तो कभी भी मुक्ति प्राप्ति नहीं होती। इससे मालूम हुआ कि राग द्वेष और मोह बंध का कारण है।

अब देखो भाईया, योग और कषाय ये दो ही तो चीजें हैं उसमे योग बंधका कारण नहीं कहा, बंध का कारण बतलाया है कषाय। कषाय से अनुरंजित प्राणी ही बंधनको प्राप्त होता है। देखिए १३ वें गुणस्थानमे केवलीके योग होते है, हुआ करो परन्तु उनमे कषाय नहीं मिली इसलिए अबंध है। अब देखो, ईट पर ईट धरकर मकान बना तो लो जब तक उसमे चूना न हो। आटेमे पानी मत डालो देखे कैसे रोटी हो जायगी ? अग्नि

पर पानीसे भरी हुई बटलोई रक्खी है। अब उलबल खलबल हो रही है। तो क्या होता है—जबतक उसमें चावल न हों। एव बाह्य में समवसरण आदि विभूति है पर अन्तरगमे कषाय नहीं है—तो बताओ कैसे बध होय ? तो मालूम पड़ा कि कषाय ही बंधको करानेवाली है। सम्यग्दृष्टि को कषायोंसे अरुचि होजाती है। इसीलिए उसका राग रस वर्जन शील स्वभाव होजाता है। अब देखिए, तुम हमसे मिले। मिले तो सही पर अन्तरगसे यही चाहते रहे कि कब यह बला टल जाय ? उससे मिलनेकी इच्छा ही नहीं होती। हम आपसे पूछते है, क्या वह मिलनेमे मिलना हुआ ? ऊपरसे मिला पर अन्तरगसे जैसा मिला वैसा ही नही मिला। वैसे ही भइया, सम्यग्दृष्टि को रागादिकोंसे अत्यन्त अरुचि होजाती है। वह किसी पर-पदार्थकी इच्छा ही नहीं करता। इच्छा करे तो होता क्या है ? वह अपनी चीज होय न जब। अपनी चीज होय तो उसकी इच्छा करे। इच्छाको ही वह परिग्रह मानता है। और परिग्रह है क्या चीज ? पर पदार्थ तो तुम्हारे कुछ होते नहीं। लोक क्या है ? छ हद्रव्योंका समुदाय ही तो है। 'सब द्रव्य स्वत अपने २ स्वभाव मे परिणमन कर रहे हैं। कोई किसीके आधीन नहीं होता।' पर मोहसे हम उसे मान लेते हैं कि यह तो हमारी है। क्या वह तुम्हारी हो जाती है ? सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों को तो जुदा समझता ही है वर अन्तरग परिग्रह जो रागादिक है उनको वह हेय ही जानता है, क्योंकि

बाह्य-वस्तुको अपना माननेका कारण अन्तरंग के परिणाम ही तो है। यदि अन्तरंगसे छोड़ दो बातो वस्तु तो स्वत छूटी ही है सम्यकदृष्टि बाह्य पदार्थों की चिन्ता नही करता, वह उसके मूल कारण को देखता है। इसीलिए सम्यग्दृष्टिकी परिणति अटपटी हो जाती है। वह बाह्यमे कार्य करता अवश्य है पर अन्तरंगसे कुछ और ही रटना लगी रहती है। उसके अन्तरंगमें मिश्री ही घुला करती है। अत सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी मे बड़ा अन्तर हो जाता है। सम्यक्त्वी की अन्तरंग दृष्टि होती है तो मिथ्यात्वी की वहिर्दृष्टि सम्यक्त्वी ससार मे रहता है पर मिथ्यात्वी के हृदय मे ससार रहता है। जलके ऊपर जबतक नाव है तब तो कोई विशेष हानि नही, पर जब नावके अन्दर जल बढ जाता है तो वह डूब जाती है एक रईस है तो दूसरा सईस रईसके लिए बग्गी होती है तो बग्गीके लिए सईस। मिथ्यात्वी शरीरके लिए होता है तो सम्यक्त्वी के लिए शरीर। दोनों बहिरे होते हैं,। वह उसकी बात नही सुनता और वह उसकी नहीं सुनता। वैसे ही मिथ्यात्वी सम्यक्त्वी की बात नही समझता और सम्यक्त्व मिथ्यात्वी की।वह अपने स्वरूपमे मग्न है और वह अपने रंगमें मस्त है।

देखिए जो आत्मा और अनात्माके भेदको नहीं जानता वह आगम मे पापी ही बतलाया है। द्रव्यलिंगी मुनिको ही देखो

वह बाह्यमें सब प्रकारकी क्रिया कर रहा है। अट्ठाईस मूल गुणों को भी पाल रहा है। बड़े बड़े राजे-महाराजे नमस्कार कर रहे। कषाय इतनी मंद है है कि घानीमे भी पेल दो तो त्राहि न करे। पर क्या है? इतना होते हुए भी यदि आत्मा और अनात्माका भेद नही मालूम हुआ तो वह पापी ही है। चरणानुयोग की अपेक्षा से अवश्य मुनि है पर करणानुयोगकी अपेक्षासे मिथ्यात्वी ही है। उसकी गति नवग्रैवेयकके आगे नहीं। ग्रैवेयिकसे च्युत हुआ और फिर वही पहुचा। फिर आया फिर गया। इस तरह उसकी गति होती रहती है।

एक मनुष्य था, भइया। उसने एक विद्या सिद्ध की जिसके फल स्वरूप एक देव प्रकट हुआ। देवने कहा—'क्या चाहता है?' पर एक शर्त है—यदि तू मुझे काम नही बतलाएगा तो मैं तुझे मार डालूगा। उस मनुष्यने स्वीकृति देदी और अपने सब कार्य करवा लिए। जब कोई काम शेष न रहा तब देवने कहा 'काम बतलाओ' अन्यथा मारता हूँ। वह मनुष्य बोला अच्छा, एक रस्सीकी सीढ़िया बनाओ। उसपर चढ़ो और उतरो। वह उसी माफिक उतरने चढ़ने लगा। अन्त में हाथ जोड़े और बोला 'तुम जीते मै हारा'। वैसे ही द्रव्यलिंगी चढता उतरता रहता है पर भावलिंगी एक दो भव मे ही मोक्ष चला जाता है। तो कहने का प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्वी उस अनादिकालीन ग्रन्थी को–जो आत्मा और अनात्मा के बीच पड़ी हुई थी अपनी प्रज्ञारूपी छैनी

से द्वेष डालता है। वह सबको अपनेसे जुदा समझता हुआ अन्तरङ्गमे विचार करता है 'सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहम्' अर्थात् मैं सहजशुद्ध-ज्ञान और आनन्द एक स्वभाव रूप हूँ। एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है। उसकी गति ऐसी ही हो जाती है जैसे जहाजका पक्षी— उडकर जाय तो बताओ ? कहाँ जावे। इस ही को एकत्व पर अनेक कहते है। 'संसारमे यावत् जितने पदार्थ है वह अपने स्वरूपसे भिन्न है।' ऐसा चिन्तवन करना यही तो अन्यत्व भावना है। अतः सम्यग्दृष्टि अपनी दृष्टिको पूर्ण रूपेण स्वभावपर ही केन्द्रित कर देता है।

देखिए मुनि जब दिगम्बर हो जाते है तो हमको ऐसा लगता है कि कैसे परीषह सहन करते होगे ? पर भइया, हम रागी और वे वैरागी। उनको हमारी क्या समता ? उनके गुणको हम रागी जीव नही पा सकते। सुकुमालस्वामीको ही देखिए। स्यालिनीने उनका उदर विदारण करके अपने क्रोधकी पराकाष्ठाका परिचय दिया किन्तु वे स्वामी उस भयकर उपसर्गसे विचलित न होकर उपशमश्रेणीद्वारा सर्वार्थसिद्धिके पात्र हुए। तो देखो यह सब अन्तरग की बात है। लोग कहते है कि भरतजी घर ही मे वैरागी थे। अरे, वह घर मे वैरागी थे तो तुम्हे क्या मिल गया ? उनको शान्ति मिली तो क्या तुम्हे मिल गई ? उनने लड्डू खाये तो क्या तुम्हारा, पेट भर गया ? अरे, यो नही 'हम ही घर वैरागी' ऐसी रटना लगाओ। यदि तुम घरही वैरागी बनकर रहोगे तो तुम्हें

शाति मिलेगी। उनकी रटना लगाए रहो तो बताओ तुमने क्या तत्व निकाला ? तत्व तो जभी है जब तुम वैसे बनोगे। ज्ञानार्णव मे लिखा है कि सम्यग्दृष्टि दो ही तीन है। तो दूसरा कहता है कि अरे, दो तो बहुत कह दिए—यदि एक ही होता तो कहते हम हैं। हम ही सम्यग्दृष्टि है। अत अपने को सम्यग्दृष्टि बनाओ ऊपरसे छल कपट हुआ तो क्या फायदा ? अपनेको माने सम्यग्ज्ञानी और करे स्वच्छाचारी। यह तो अन्याय हुआ। सम्यग्दृष्टि निरन्तर अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात करता है। भयंकरसे भयकर उपसर्ग मे भी वह अपने श्रद्धानसे विचलित नहीं होता देखो, गवर्नमेन्ट कितना ब्लेक मार्केट रोकती है पर तो भी होता ही है। वैसे ही सम्यक्त्वीको कितनी भी बाधा आए तो भी वह अपनेको मोक्षमार्गका पथिक ही मानता है।

सम्यग्दृष्टिका आत्म परिणाम

वेदकभाव—वेदनेवाला भाव—और वेद्यभाव-जिसको वेदे—इन दोनोमे काल भेद है। जब वेदक भाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नही होता ऐसा होने पर जब वेदक भाव आता है तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है तब वेदक-भाव किसको वेदे ? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब वेदकभावके बिना वेद्यको कौन वेदे ? इसलिए ज्ञानी दोनोंको विनाशीक जान आप जानने वाला ज्ञाता ही रहता है।

अतः सम्यक्त्वी के कोऊ चालका बंध ही नही होता। पर हम जब अपनी ओर दृष्टि डालते हैं तो भोगोंमें मग्न होनेके अलावा और कुछ दिखता ही नहीं है। भोग भोगना ही मानों अपना लक्ष्य बना लिया है। हम समझते हैं कि हम मोक्षमार्गमें लग रहे हैं पर यह मालूमही नहीं कि नरक जानेकी नसैनी बना रहे हैं।

एक मनुष्य बड़ा मूर्ख था वह हर समय अपनी मूर्खताके काम किया करता था इसीसे उस नगरके सब लोग उसे मूर्ख कहने लगे। इससे उसे बहुत दुख हुआ। उसने सोचा कि यदि मैं जंगलमें चला जाऊंगा तो वहां मुझे कोई मूर्ख नहीं कहेगा। एक दिन वह घर से निकल कर जगलमें चला गया और कुए मे पैर लटकाकर उसकी पाट पर बैठ गया। इतनेमें एक आदमी आया, उसने कहा भइया तू बडा मूर्ख है। वह बोला, तुम्हें कैसे मालूम हुआ? तब उसने कहा तुम्हारी करतूत से, वैसे ही आचार्य कहते हैं कि तुम भी अपनी करतूतोंसे भोगोंमे मग्न होकर ससारमे डूब रहे हो। स्वयंभूस्तोत्रमें भगवान् सुपार्श्वनाथकी स्तुतिमें स्वामी समन्तभद्राचार्यने लिखा है ---

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेषपु सा, स्वार्थो न भोग परिभङ्गुरात्मा ॥
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्ति, रितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वे. ॥

स्वास्थ्य वही, जो कभी क्षीण न हो। जो क्षीणताको प्राप्त हो वह स्वास्थ्य किस कामका ? और स्वार्थी पुरुषोंके भोग भी विषम एवं क्षणभंगुर है। एकने पूछा कि जब तक भोग भोगते हैं तब तक उसे सुख कहो। तो कहते हैं कि वह भी सुख आतापका उपजाने वाला है, क्योंकि उसमे तृष्णारूपी रोग लगा हुआ है। अत भोगोंसे भी तृप्ति नहीं मिल सकती। भोगोंसे तृप्ति चाहना ऐसा ही है जैसे अग्निको घीसे बुझाना। मनुष्य भोगोंमें मस्त हो जाता है और उसके लिये क्या २ अनर्थ नहीं करता। भोगोके लिये जो अनर्थ करे जावे थोड़े ही है। रावणको ही देखिए। वह जब सीताजीको ले जा रहा था तब जटायु बचानेको आया। उसने एक थप्पड़ मारी, बेचारा रह गया। बतलाओ वह उस बलीसे क्या करता। वह तो भोगोंमें इतना आसक्त था कि उस भोगांधने यह विचार भी नहीं किया कि मैं इस दीन-हीन बेचारे पशुको क्यों मार रहा हूँ, क्योंकि भोगासक्तिने उसके विवेकको जो पगु बना दिया था। इसीसे विवेक को उसके हृदयमे स्थान नहीं मिला सम्यग्दृष्टिमे विवेक है वह भोगोंसे उदास रहता है—उनमे सुख नहीं मानता। जब वह स्वर्गादिककी विभूति भी प्राप्त करता है और नाना प्रकारकी विषय-सामग्री होते हुए भी अन्तमे देवोंकी सभा मे यही कहता है कि कब मैं मनुष्य योनि पाऊ ? कब भोगोसे उदास होऊं ? और नाना प्रकारके तपश्चरों का आचरण कर मोक्ष रमणी वरूं ?

ऐसी ही भावना निरंतर बनी रहती है। और बताओ जिसकी ऐसी भावना निरंतर बनी रहती है क्या उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ? अवश्यमेव होती है। इसमें सन्देहको कोई स्थान ही नहीं।

अब कहते हैं कि जब सम्यग्दृष्टिको पर-पदार्थोंसे अरुचि हो हो जाती है तब घरमें क्यों रहता है ? और कार्य क्यों करता है ? इसका उत्तर कहते हैं कि वह करना नहीं चाहता पर क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म है उनके उदयसे करना पडता है। वह चाहता अवश्य है कि मै कोई कार्य का कर्ता न बनूँ। उसकी पर पदार्थोंसे स्वामित्व बुद्धि हट जाती है पर जो अज्ञानावस्थामें पूर्वोपार्जित कर्म हैं उनके उदयसे लाचारीवश होकर घर-गृहस्थीमें रहकर उपेक्षा बुद्धिसे करना पडता है। इसका दृष्टान्त ऐसा है कि एक सेठ था। उसके यहा चोर आए। चोरोंने उस सेठसे पूंछा कि माल कहा है ? पहिले तो सेठने नहीं बताया। तब चोरोंने उसके हाथ मे सुई चुभो दी। सेठने भयसे अपना सारा माल बता दिया। चोरोंने वह सब माल ले लिया और उसको ऊपरसे नीचे पटक दिया। सेठ जैसे तैसे वहासे भागा और चिल्लाता गया-हाय, रे हाय, मै तो लुट गया। उधरसे उसका ईमानदार नौकर आरहा था। उसने पूछा-सेठजी ! क्या बात है ? सेठजी तुनक कर बोले अरे, चोरोंने मुझे लूट लिया। नौकर तुरन्त ही घरमें गया और उन चोरोंको पकड़ लिया। उसने आवाज देते हुए

कहा-सेठजी, आप निश्चित रहिए। मैंने चोरोंको पकड़ लिया है और आपका माल सब सुरक्षित है। सेठ जी हर्ष सहित अपने घर लौटे और देखा कि सब माल जहां का तहां है। बड़े प्रसन्न हुए। अब हम आपसे पूछते हैं कि सेठजी अपना माल देखकर तो प्रसन्न हुए पर जो उसके हाथ में सुई चुभोई गई उसका दर्द तो भोगना पड़ा। जो ऊपरसे उसे पटका गया उसका दर्द तो कहीं नहीं गया। ठीक यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है। वह अपनी आत्माका अनाद्यनन्त अचल स्वरूप देखकर तो प्रसन्न हुआ। उसके अपार खुशी हुई। पर अज्ञानावस्थामें जो जन्मार्जित कर्म है उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। वह बहुत चाहता है कि मुझे कुछ नहीं करना पड़े। मैं कब इस उपद्रवसे मुक्त होजाऊं ? पर करना पड़ता है, चाहता नहीं है। उस समय उसकी दशा मरे हुए व्यक्तिके समान हो जाती है। उसको चाहे जितना साज श्रृंगार करो पर उसे कोई प्रयोजन नहीं। इसी भांति सम्यक्त्वीको चाहे जितनी सुख दुख की सामग्री प्राप्त हो जाय पर उसे कोई हर्ष-विषाद नहीं।

हम कहते हैं कि मनुष्य अपना श्रद्धान न बिगाड़े, चाहे जो हो जाय। सूर्य पूर्वसे चाहे पश्चिम में उदित हो जाय पर हमको अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं होना चाहिए। जब भइया सीता का लोकापवाद हुआ तब रामने कृतांतवक्रको बुलाकर कहा-'ले जाओ' सीताको बीहड़ बनमें छोड़ आओ।'

वह सीता महारानीको वन में ले गया जहां नाना प्रकारके सिंह चीते और व्याघ्र अपना मुँह वाए फिर रहे थे। सीता ऐसे भयंकर वनको देखकर सहम गई और बोली मुझे यहां क्यों लाए ? तब कृतांतवक्र कहते हैं हे महारानी जी ! जब आपका लोकापवाद हुआ, तब रामने आपको वनमें त्यागने का निश्चय कर लिया और मुझे यहां भेज दिया। उसी समय सीताजी कहती हैं कि जाओ, राम से जाकर कह देना कि जिस लोकापवादसे तुमने मुझे त्याग कर दिया, कहीं उसी लोकोपवादके कारण तुम अपने श्रद्धानसे विचलित मत हो जाना। इसे कहते हैं श्रद्धान। सीताको अपना आत्मविश्वास था। क्या ऐसा श्रद्धान हम आप नहीं कर सकते ? उस तरफ़ लक्ष्य करे न जब। हम तोसंसार में रहना चाहे और मोक्ष भी चाहे– ऐसा कभी हुआ और न हो सकता है।

दो मुख पथी चलै न पंथा, दो मुख सूई सियैं न कंथा॥
दोऊ काम न होय सयानें, विषय भोग अरुमोक्षहि जानें + ॥

+ वे पंथेहिं ण गम्मइ वे मुहसुई ण सिज्जए कथा।

विठिण ण हुंति अयाणा, इंद्रिय-सोक्खं च मोक्खं च ॥

—मुनि रामसिंह पाहुड़ दोहा

प्रथम हमारी उस तरफ रुचि होनी चाहिए। सम्यग्दृष्टिको मुक्तिकी उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी परपदार्थोंसे मूर्छा (ममता) हट जाती है। तब वह अपनामाननेकी भूलको सुधार लेता है और देखो मानने ही का तो सारा झगडा है। एक जगह चार मनुष्य परस्पर वार्तालाप कर रहे है। एकने दूसरेको गाली निकाली। अब वह दूसरा मनुष्य मान बैठा कि इसने यह गाली मुझको दी, इससे वह क्रोधमे आग बबूला हो गया। अब देखो, उस दूसरे मनुष्यने मात्र मानही तो लिया कि यह गाली मुझे दे रहा है, नही तो जानता कि यह तो वचन रूप पुद्गल परमाणु है और क्रोधित नही होता। और भी नहा मनुष्य बैठे थे उन्होने नही माना, इसलिए क्रोधित नहीं हुए। तो मनुष्य माननेमे ही आत्माका अहित कर डालता है। इन सबको हम अपनी चीज मानते हैं तभी तो विकल्प होता है-हाय रे, हाय-कहीं यह चीज चली न जाय? अच्छा, जो चीज तुमने अपनी मानी, वह तुम्हारे अन्दर तो न चली गई -पर अन्दर विकल्प होता रहता है। चीज रक्खी है वहा पर विकल्प कर रहे है अन्दर। और जब तुमने उससे ममत्व हटा लिया, तो दुनिया ले जाय कुछ विकल्प नही।

भेदज्ञानकी महिमा

एक वैश्य था भइया। वह बडा हट्टा कट्टा था। उसने एक क्षत्रीको पटक लिया और उसकी छाती पै बैठ गया। क्षत्रीने पूछा-'भाई? तू कौन है।' उसने कहा-'मैं वैश्य हूँ।' इतना

कहना था कि झट उस क्षत्रीको जोश आगया और एक झटका देकर उस ी ज्ञानी पर सवार हो गया। इसी तरह जब तक हम अज्ञानी थे पुद्गल द्रव्यको अपना माने हुए थे तब तक पुद्गल अपना प्रभाव जमाए हुए था। और जिस काल हमारे निज स्वरूपका ज्ञान भानु (सूर्य) उदित हुआ तब सर्व अज्ञानके चिमगादड विला गए। हमको मालूम होगया कि हमारी आत्मा तीन लोकका धनी है। पुद्गल हमारा क्या कर सकता है? मानन मे गलती पडी हुई थी वह मिट कर पुद्गलको पुद्गल और आत्मा को आत्मा जान लिया। और देखो मानन का ही ससार है। अन्धकारमें रज्जुको सर्प मान बैठे हैं तभी तक तो भय है। वह मानन मिटा दो-आत्माको आत्मा और पुद्गलको पुद्गल जानो। आत्मा को आत्मा जान लिया, तो कहीं शरीर नष्ट नहीं हो जाता। जैसे पुरुषको स्त्रीसे विरक्तता हुई तो क्या स्त्री कहीं चली जाती है? अरे, जिस चीजसे हम स्त्रीको अपना मान रहे थे, वह चीज मिट गई। वैसे ही मोहोदयसे शरीरमें जो आत्मीय-बुद्धि लग रही थी, वह मिट गई। भेदज्ञानको प्राप्तहोकर शरीरको शरीर और आत्माको आत्मा जान लिया। यही तो भेद-विज्ञान है।

अन्यमती कहते हैं कि भगवान सच्चिदानन्दमय-सत् चित् आनन्दमय है सत् क्या कहलाता ? 'उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' संसारमें ऐसा कोई पदार्थ है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त नहीं होता, यदि होता तो बताओ। जैसे एक स्वर्णकी डली है। उसे

गलाकर कटक बना लिया। यहां डलीका तो व्यय हुआ और कटककी उत्पत्ति हुई, पर स्वर्णत्व दोनोमे एकसा पाया गया, इसी तरह एक मनुष्य मरकर देव हुआ। यहां पर मनुष्य पर्यायका तो व्यय हुआ, देवपर्यायकी उत्पत्ति हुई और चेतन जीव ध्रुव हुआ; क्योंकि वह मनुष्यपर्याय मे भी था और देव मे भी है। इस तरह पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। यदि उत्पाद-व्यय ध्रौव्य-युक्त पदार्थ न हो तो संसारका कोई व्यवहार ही न चले। तो सत् का कभी विनाश नहीं होता।

संसारके सब पदार्थ अपने अपने स्वरूप में हैं। कोई किसी से मिलता नहीं। और पदार्थोंकी भी जभी शोभा है जब एक दूसरे से न मिलें। यदि मिल गए तो उनका स्वरूप च्युत हो जाता है उनमें विकृति आजाती है। आत्मा अपने स्वरूपमे च्युत हुई तो देखलो ससारमे भटक रही है। अपने स्वरूपमे आने से ही शोभा है। तो सम्यग्दृष्टि अपनी आत्माके अलावा किसी पर पदार्थोंके सयोगकी वाञ्छा नही करता। वह सर्व पदार्थोंको यहां तक कि परमाणुमात्र तकको अपनेसे जुदा समझता है। और भइया जब तक पर पदार्थोंको अपनाते रहोगे तब तक दान देनाभी व्यर्थ है। यह निश्चिय समझो। दान देते समय पदार्थोंसे ममत्व हटालो। यदि ममत्व नहीं हटाया और दान कर दिया तो मनमे विकल्पता आजायगी। कदाचित् सोचोगे कि

हमने ५००) रु० का दान किया तो हमें आगे १०००)रु० मिलें। नाना प्रकारका तपश्चरण किया तो स्वर्गमें अप्सराओंके भोग चाहोगे। अत: दान करो तो उन पदार्थोंसे मूर्छा हटालो समझो हमारी चीज ही नहीं है। ममत्व हटाया नहीं और दान कर दिया तो वह निहायत बेवकूफी है। तो यह सब अन्तरगके विकल्प हैं और कुछ नहीं। किसी दीन को देखकर तुम्हें करुणा आई और अन्दर विकल्प हुआ कि कुछ देना चाहिए। अत: देने की आकुलता हो गई। और जब तक तुम दो नहीं, तब तक वह आकुलता न मिटे। दूसरोंको दान करते हो तो तुम अपनी आकुलता मेटनेके वास्ते करते हो और जिसके आकुलता नहीं होती, तो वह कह देते हैं कि "चल चल यहांसे।" अतः आकुलतासे ही दान दिया जाता है। उसी तरह दया, क्षमा, यम संयमके भाव भी आकुलतामय हैं। देखो, आचार्योंको संसारके प्राणियों पर दया आई जभी तो द्वादशांग वाणीकी रचना हुई; किन्तु यथार्थ दृष्टिसे विचार करो, तो आचार्यने यह कार्य परके अर्थ नहीं किया, किन्तु सज्वलन कषायके उदयमें उत्पन्न हुई वेदनाके प्रतिकारके अर्थ ही उनका यह प्रयास हुआ। परको तत्व ज्ञान हो, यह व्यवहार है और यह सब छट्ठे प्रमत्त गुणस्थान में होता है। अप्रमत्तमे और आगे तो कोई आकुलता ही नहीं। इससे साबित हुआ कि वह एक निर्विकल्प भाव है।

उस आत्मामें कोई प्रकारके मोहादिक भाव नहीं। मोहका

प्रपञ्च ही अखिल संसार है। अब देखिए, आदिनाथस्वामी के दो ही तो स्त्रियाँ थी नन्दा और सुनन्दा। उन दोनोंको त्याग कर वन मे भागना पड़ा। क्यों ? घरमें नही रह सकते। यदि कल्याण करना अभीष्ट है तो भागो यहांसे। वनका आश्रय लो। अरे, क्या घरमें कल्याण नहीं कर सकते थे ? नहीं। स्त्रियोंका जो निमित्त था। कल्याण कैसे कर लेते। मोह ी सत्ता जो विद्यमान है। वह तो चुलबुली मचाए दे रहा है। कहता है जाओ वनमे। अरे, किसी बगीचे मे ही चले जाते। नहीं। कारण कूट बडी चीज है। बनमें ही जाओ। छ महीनेका मौन धारण करो। एक शब्द नहीं बोल सकते। और छ महिने का अन्तराय हुआ यह सब क्या मोहकी महिमा नहीं है। अच्छा, वहां घरसे तो दो ही स्त्रियाँ छोड़ी और समवशरणमे हजारों लाखो स्त्रियां बैठी है, तब वहां से नहीं भागे। इसका कारण यही, कि यहां मोह नहीं था। और वहां मोह था, तो जाओ वन मे, धरो छ महीने का योग। अत मोहकी विलक्षण महिमा है।

मोहसे ही संसारका चक्र चल रहा है। यह कर्म ही मनुष्यों पर सर्वत्र अपना रौब ग़ालिब किए हुए है। इसके नशे में मनुष्य क्या २ बेढब कार्य नहीं करता। यहां तक कि प्राणान्त तक कर लेता है। जब स्वर्गमें इन्द्र अपनी सभामें देवोंसे यह कह रहा था कि इस समय भरतक्षेत्रमें राम और लक्ष्मणके समान स्नेह और किसीका नहीं। उसी समय एक देव उनकी

परीक्षाके हेतु आयोध्या में आया। वहां उसने ऐसी विक्रिया व्यीम करी, कि नगरका सारा जनसमूह शोकमय दिखाई पड़ने लगा। नर-नारी अत्यधिक व्याकुल हुए, ऐसे रुदनमय शब्द करते हुए कि जो श्री रामचन्द्रका देहावसान हो गया। जब यह भनक लक्ष्मणजीके कर्ण पुटमें पड़ी तो अचानक लक्ष्मणके मुखसे 'हा राम' भी पूर्ण नहीं निकला कि उनका प्राणान्त हो गया। यह सब मोहकी विलक्षण महिमा ही है। यह ऐसा है वैसा नहीं है यह ऐसा पीछे है वैसा पीछे नही था ऐसा आगे है वैसा आगे नहीं होगा, मोहमें ही करता है। मोहमें ही तो सीताका जीव रामसे आकर कहता है कि स्वर्गमे हमारे पास आ जाना। यहां मनुष्यका भयंकर शत्रु है। मोक्षमार्गसे विपरीत परिणमन कराता है। अत यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो भूरिश विकल्पजालोंको त्यागो। मोहको जैसे बने कम करनेका उद्यम करो। यदि पचेन्द्रिय-विषयोंके सेवनमे मोह कम होता है। तो वह भी उपादेय है और यदि पूजा दानादि करनेमें मोह बढ़ता है तो वह भी उस दृष्टिसे हेय है। दुनियां मोह करे कभी इसमे मत फंसो। कोई भी तुम्हें मोह में नहीं फंसा सकता। सीताके जीवने सोलहवें स्वर्गसे आकर श्रीरामचन्द्रको कितना लुभाया पर वह मोहको नाश कर मोक्षको गए।

अत. इससे भिन्न अपनी ज्ञान स्वरूपी आत्माको जानो। 'तुष मास' भिन्न मुनिको आत्मा और अनात्माका भेद मालूम पड़

गया, तो देखलो केवली हो गए। द्वादशांगका तो यही सार है कि अपने स्वरूपको पिछानो और उसमें अपनेको ऐसे रमालो जैसे नमककी डली पानीमें घुल-मिल जाती है। उपयोगमे दत्तचित्त हो जाओ—यहां तक कि अपने तन-मनकी भी सुध-बुध न रहे। और, देखो उपयोगका ही सारा खेल है। अपने उपयोगको कहीं कहीं स्थिर रखना चाहिये जिस मनुष्यका उपयोग डावाडोल रहता है वह कदापि मोक्षमार्गमे प्रवर्तन नहीं कर सकता। एक मनुष्यने दूसरेसे कहा कि मेरा धर्ममें मन नही लगता। तब दूसरेने पूछा कि तेरा मन कहां और किसमें लगता है? वह बोला मेरा मन खानेमें अधिक लगता है। तो दूसरा कहता है—अरे, कहीं पर लगता तो है। मैं कहता हूं कि मनुष्यका आर्त-रौद्र परिणामो में ही मन लगा रहे। कहीं लगा तो रहता है। अरे, जिसका आर्त परिणामोंमें मन लगता है वही किसी दिन धर्ममे भी मन लगा सकता है। उपयोगका पलटना मात्र ही तो है।

एक विश्व-प्रसिद्ध गणितज्ञ था। उसके दैवयोगसे गर्दनमे फोड़ा होगया। वह अस्पताल मे आया और डाक्टरको उसे दिखाया। डाक्टरने कहा-तुम्हें दवा सुँघाई जायगी और बेहोश करके फोड़ा चीरा जायगा। उसने कहा—नहीं, ऐसा मत करो। तुरन्त ही एक बोर्ड मगवाया और उस समय ही जर्मनसे जो एक प्रश्न आया उसको उस बोर्ड पर लिख दिया और कहा-हां,

अब फोडा चीरो। डाक्टरने वह फोड़ा चीर दिया और जब वह पट्टी बांध रहा था उसी समय उसका प्रश्न हल होगया। तब वह कहता है-डाक्टर, यहां जरा कुछ चिनमिनाहट सी मच रही है।' यह भइया, उपयोग है। ऐसा ही उपयोग यदि आत्मामें लग जाय तो कल्याण होनेमे कुछ विलम्ब न लगे।

आपके मोक्षमार्ग-प्रकाशकके रचयिता स्वर्गीय पं० टोडरमलजी थे। जब वह एक ग्रन्थकी रचना कर रहे थे तो मां ने एक दिन उसकी परीक्षा करनी चाही। उसने शाकमे नमक नहीं डाला। मल्लजी सा० घर आते और खानपीनसे निवृत होकर फिर स्वकार्य मे लग जाते। इसी तरह छ मास पर्यंत मांने नमक नहीं डाला। जब ग्रन्थ पूर्ण हो चुका और वह खाने बैठे तो मा से बोले 'मां, आज शाक में नमक नहीं है।' मां बोली—बेटा, मैंने तो छ महीने तक नमक नहीं डाला आज तुझे कैसे मालूम हुआ। तो भइया यह उपयोग है। यही उपयोग मोक्षमार्गमें साधक है। धन्य है उस उपयोगको जो केवल अन्तमुंहूर्तमें सम्पूर्णकर्मोंका क्षय कर इस आत्मामें केवलज्ञानका प्रसार करता है।

शास्त्रोंमें सम्यक्त्वीको पहिचाननेके लिए चार लक्षण बताए हैं १ प्रशम २. संवेग ३. आस्तिक्य और ४, अनुकम्पा। ये लक्षण बाह्यकी अपेक्षा कहे हैं। वैसे सम्यक्त्वीको विषयोंसे अरुचि हो जाती है, यह प्रकट है। पर क्या करे अनादिकालकी

जो आदत पड़ी हुई है-उसका क्या करे। वह भोग अवश्य भोगता है पर देखा जाय तो उन विषयोंमें उसके शिथिलता आ जाती है। किसीने कदाचित् उसका अपराध भी किया, तो उसके बदला लेनेके भाव कदापि नहीं होते। युद्धभूमि मे वह हजारों योद्धाओं से युद्ध भी करता है पर क्या वह ऐसा अन्तरगसे चाहता है कि उसे युद्ध करना पडे ? कविवर प० दौलत रामजीनेठीक कहा है –

चिन्मूरति दृगधारी की मोहि, रीति लगत है अटापटी।
बाहिर नारकिकृत दुख भोगै, अन्तरनिजरसगटागटी।
रमत अनेक सुरनि सँग पै, तिस परिणतितै नित हटाहटी।

वास्तवमे उसकी रीति अटपटी हो जाती है। नरकमे नारकियों द्वारा नाना प्रकारके दु ख भोगता है, पर अन्तरंगमे उसके मिश्री ही घुला करती है। अनेक देवागनाओंके समूहोंमे रमण करता हुआ भी नित्य उस परिणतिसे हटना चाहता है।

राजवार्तिक मे लिखा कि हिंसाको दूर करनेका कौनसा उपाय है। उत्तरमे कहा कि जो प्रयोग तुम दूसरो पर करना चाहते हो उसका प्रयोग पहिले स्वयं अपनी आत्मा पर करो। जिस सुईके चुभोनेसे अपनेको दर्दका अनुभव होता है तो क्या दूसरों पर तलवार चलानेमे उनको दर्दका अनुभव नहीं होता ? अवश्य होता है। हिंसाको मिटानेका यही उपाय है। और क्या है ?

जब सप्त भयों का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि को उनमेसे किसी प्रकारका भय नहीं। पहिला इस लोक भय है सम्यग्दृष्टिको इस लोकका भय नहीं होता। वह अपनी आत्माके चेतनालोकमें रहता है। और लोक क्या कहलाता है ? जो नेत्रों से सबको दीख रहा है। उसे इस लोकसे कोई मतलब नहीं रहता। वह तो अपने चेतना लोकमें ही रमण करता है। लोकमें भी भइया तब भय होता है जब हम किसीकी चीज चुराएँ। परमार्थदृष्टिसे हम सब चोर हैं जो परद्रव्योंको अपनाए हुए हैं। उन्हें अपना मान बैठते है। सम्यग्दृष्टि परमाणु मात्रको अपना नहीं समझता। इसलिए उसे किसी भी प्रकार इस लोक का भय नहीं होता। दूसरा परलोक भय है। उसे स्वर्ग नरकका भय नहीं। वह तो अपने कर्तव्यपथ पर आरुढ है। उसे कोई भी उस मार्गसे च्युत नहीं कर सकता। वह तो नित्यानन्दमयी अपनी ज्ञानात्मा का ही अवलोकन करता है। यदि सम्यक्त्वके पहिले नरकायुका बंध कर लिया हो तो नरककी वेदना भी सहन कर लेता है। वह अपने स्वरूपको समझ गया। अत. उसे परलोकका भी भय नहीं होता। अब तीसरा वेदना भय है। वह अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे शरीरको जुदा समझता। और वेदनाको समतासे भोग लेता है। जानता है कि आत्मामें तो कोई वेदना है ही नहीं इसलिए खेद-खिन्न नहीं होता। इस प्रकार उसे वेदनाका भय नहीं होता। चौथा है अनरक्षाभय। वह किसीको भी अपनी रक्षा के योग्य नहीं समझता। अरे इस आत्माकी रक्षा

कौन करे ! आत्माकी रक्षा आत्मा ही स्वय कर सकता है। वह जानता है कि गढ़, कोट, किले आदि कोई भी यहा तक कि तीनों लोकोंमे भी इस आत्माका कोई शरण स्थान नही। गुफा, मसान, शैल, कोटरमे वह निशक रहता है। शेर, चीते, व्याघ्रों आदिका भी वह भय नहीं करता। आत्माकी परपदर्थोसे रक्षा हो ही नहीं सकती। अत उसे अनरक्षा भय भी नही। अगुप्तिभयमे व्यवहार मे माल असबाबके लुट जानेका भय रहता है तो सम्यक्त्वी निश्चयसे विचार करता है कि मेरा ज्ञान धन कोई चुरा नहीं सकता। मैं तो एक अखड ज्ञानका पिंड हूँ। जैसे नमक खारेका पिंड है। खारेके सिवाय उसमे और चमत्कार ही क्या है। वैसे ही इस आत्मामें चेतनाके सिवाय और चमत्कार ही क्या है? यह चेतना हर समयमें मौजूद बनी रहती है। ऐसा ज्ञानी अपनी ज्ञानात्माके ज्ञानमे ही चिंतवन करता रहता है। एक होता है आकस्मिक भय। वह किसी भी आकस्मिक विपत्तिका भय नहीं करता। भय तो जब करे जब भयकी आशका हो। उसकी आत्मा निरन्तर निर्भय रहती है। अत उसे आकस्मिक भय भी नही होता। और एक मरण भय होता है। मरण क्या कहलाता? दस प्राणोंका वियोग हो जाना ही तो मरण है। पाच इन्द्रिय तीन बल, एक आयु और एक श्वासोच्छ्वास इनका वियोग होते ही मरण है। परन्तु वह अनाद्यनंन्त, नित्योद्योत, और ज्ञान स्वरूपी अपनेको चिन्तवन करता है। एक चेतना ही उसका प्राण है। तीन कालमे उसका वियोग नही होता। अतः चेतना-मयी

ज्ञानात्माके ध्यानसे उसे मरणका भी भय नहीं होता। इस प्रकार सात भयोंमे से वह किसी प्रकारका भय नहीं करता। अतः सम्यग्दृष्टि पूर्णतया निर्भय है।

अब सम्यक्त्वके अष्ट अगोंका वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि सम्यक्त्वीको ये अंग भी पूर्णतया सम्यक्त्वी है। पहला है नि शंकित। उसे किसी प्रकारकी भी शंका नहीं रहती। वह निधडक होकर अपने ज्ञानमें ही रमण करता है। सुकौशल स्वामीको व्याघ्री भक्षण करती रही, पर वह निशंक होकर अंत-मुहूर्त मे केवलज्ञानी बने। शंकाको तो उसके पास स्थान ही नही रहता। उसे आत्माका स्वरूप भासमान हो जाता है। अतः नि शंकित है। दूसरा है निकांक्षित, आकांक्षा करे तो क्या भोगों की, जिसको वर्तमान मे ही दुखदायी समझ रहा है। वह क्या लक्ष्मीकी चाहना करेगा? अरे, क्या लक्ष्मी रांड कहीं भी स्थिर होकर रही है? तुम देखलो जिस जीवके पुण्योदय हुआ उसीके पास दौड़ी चली गई। अत ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्नमें भी नही चाहते। वे तो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रमई आत्माक ही सेवन करतेहैं। निर्विचिकित्सा तीसरा अंग है। सम्यग्दृष्टिको ग्लानितो होती ही नहीं। अरे, क्या मलसे ग्लानि करे? मलतो प्रत्येकशरीर मे भरा पड़ा है। तनिक शरीरको काटो तो सिवाय ग्लानिके कुछ नहीं।

प्रो० ईश्वरचन्द विद्यासागर जब कालेज जारहे थे तो रास्तेमें

एक नौकरको वमन करते देखा। उन्हें उसपर दया आगई और अपने कंधे पर बिठलाकर घरमे ले आए। डाक्टरको उसी समय टेलीफोन किया कि एक आदमीको हैजेकी बीमारी है अतः तुरन्त चले आओ। डाक्टरके आने पर वह अपनी मांता और स्त्रीसे कह गया कि इसकी खूब सेवा करना। जब वह आदमी अच्छा होगया तो विद्यासागरने उसे लेजाकर उसके मालिकके सुपुर्द किया जिसका वह नौकर था और कहा कि अब इसकी तबियत अच्छीहै इसे अपने पास रखलो। वह मालिक ईश्वरचन्द्र को देखकर बड़ा लज्जित हुआ। तब विद्यासागरने कहा—'कोई बात नहीहै, तुम्हें फुरसत नहीं होगी। मैंने इसका इलाज कर दिया है।' तब उस मालिकने उसके नामसे दस हजार रुपये जमा कराए और उससे कहा—तुम हमारी देहली पर बैठे रहा करो, तुम्हारे वास्ते और कुछ काम नहीं है। और उसको ५०) रुपये मासिक बांध दिये। तो यह है निर्विचिकित्सा अंग। किस पदार्थसे ग्लानि करे। सब परमाणु स्वतत्र हैं। मुनि भी देखो भइया किसी मुनिको वमन करते देखकर ग्लानि नहीकरते और अपने दोनों हाथ पॅसार देते हैं। अतः सम्यग्दृष्टि इस निर्विचिकित्सा अगका भी पूर्णतया पालन करता है। चौथा अंग है अमूढदृष्टि। मूढदृष्टि तो तभी है जब पदार्थोंके स्वरूपको कोई न समझे—अनात्मामें आत्मबुद्धि रक्खे—पर सम्यक्त्वीके यह अंग भी पूर्णतया पलता है उसकी अनात्म-बुद्धि नही होती; क्योंकि उसे भेद-विज्ञान प्रकट हो गया है।

उपगूहन पांचमा अंग है। सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको नहीं छिपाता। अमोघवर्ष राजाने लिखा कि भइया प्रछन्न (गुप्त) पाप ही सबसे बड़ा दोष है जिससे वह निरन्तर सशंकित बना रहता है।

एक राजा था। जब वह अशुचि-ग्रह में जा रहा था तब उसे वहां एक सेव मिला और उठाकर खा लिया। अब देखो किसीको भी यह पता नहीं था। जब वह राज-दरबारमे आया तो वहा रंडियोंका नाच-गान शुरू हुआ। एक रंडीने गाया 'कहदैहों ललनकी बतिया'। राजा समझ गया और उसने सोचा कि इस रांडने देख लिया। उसने यह सोच कर उसे एक स्वर्ण-मुद्रा प्रदान की कि वह किसीसे यह बात प्रकट न करे। जब उसने दूसरा गाया तब कुछ नहीं दिया। इसी तरह तीसरे गानेमें भी कुछ नहीं दिया। तो रंडी सोचने लगी कि राजा इसी गाने पर मुग्ध हैं। वह बार बार उसीको ही गाने लगी—'कह दैहों ललनकी बतिया'। राजा बड़ा असमजसमें पड़ा और उसने तब दो तीन चीजें दीं—यहां तक कि सारे शरीरके आभूषण उतार कर उसे दे दिए। जब उसने वही गाना गाया तो राजाने सोचा कि इसने सब कुछ तो ले लिया, अब क्या करूं ? वह प्रकट में बोला 'जा, मैंने सेव खाया है जिससे तुझे कहना है।, जाकर कहदे। तो प्रछन्न पाप बड़ा दुखदाई होता है। अरे, जो पाप किए हैं उसे सामने प्रकट कर देवे तो उतना दुख नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको एक एक करके निकाल फैंकता है। और एक निर्दोष आत्माको ही ध्याता है। स्थितिकरण छठा अंग है। जब कोई अपने ऊपर

विपत्ति आजाय अथवा आधि-व्याधि हो जाय और रत्नत्रयसे अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पड़े, तब अपने स्वरूपका चितवन कर लेवे और पुनः अपनेको उसमे स्थित करले। व्यवहारमे परको चिगते मे संभाले। इस अंगको भी सम्यक्त्वी विस्मरण नहीं करता। वात्सल्य अग सातवा है। गो और वत्सका वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाइयोसे करे। सच्चा वात्सल्य तो अपनी आत्माका ही है। सम्यक्त्वी समस्त प्राणियोसे मैत्री भाव रखता है। उसके सदा जीव मात्रके रक्षाके भाव होते है। एक जगह लिखा है —

अयं निज: परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

'यह वस्तु पराई है अथवा निजकी है ऐसी गणना क्षुद्र चितवालोंके होती है। जिनके उदार चरित्र हैं उनके तो पृथ्वी ही कुटुम्ब है।' सम्यग्दृष्टि भगवानकी प्रतिमाके दर्शन करता है पर उसमे भी वह अपने स्वरूपकी ही झलक देखता है जैसा उनका चतुष्टय स्वरूप है वैसा मेरा भी है। ऐसा वह अपनी आत्मासे अगाढ वात्सल्य रखता है। और अन्तिम अग है प्रभावना। सच्ची प्रभावना तो वह अपनी आत्माकी ही करता है पर व्यवहारमे रथ निकालना, उपवास करना आदिकी प्रभावना करता है। हम दूसरोंको जैनी बनानेका उपदेश करते हैं पर स्वयं जैनी बननेकी कोशिश नहीं करते। यह हमारी कितनी भूल है? अरे, पहले

अपनेको जैनी बनाओ। दूसरेकी चिन्ता मत करो। वह तो स्वय अपने आप हो जायगा। ऐसी प्रभावना करो जिससे दूसरे कहने लगे कि ये सच्चे जैनी हैं। भगवानको ही देखो! उन्होंने पहले अपनेको बनाया' दूसरेको बनानेकी परवाह उन्होंने कभी नहीं कीं। यदि तुम जैनी बन जाओगे तो फिर 'यथा पाण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार एकका असर दूसरे पर अवश्य पडेगा। इसी तरह सब मनुष्य अपनी अपनी चिन्ता करने लगें तो किसी को किसीकी चिन्ता करनेकी जरूरत न रह जाय। यह सिद्धात है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि उक्त अष्टअगोंका पूर्णतया पालन करता हुआ अपनी आत्माकी निरन्तर विशुद्धि करता रहता है। तो भइया सम्यग्दृष्टि बनो। समताको लाने का प्रयत्न करो। समता और तामस ये दो ही तो शब्द है। चाहे समताको अपनालो या चाहे तामसको। समतामे सुख है तो तामसमे दुख है। समता यदि आजायगी तो तुम्हारी आत्मामे भी शाति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो।

अब कहते है जो आत्मा और अनात्माके भेदको नहीं जानता वह मिथ्यात्वी है। और वास्तव मे देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीव का भयकर शत्रु है। यही चतुर्गतिमे रुलानेका कारण है। दो मनुष्य हैं पहिलेको पूर्वकी ओर जानाहै, और दूसरेको पश्चिम-की ओर। जब वे दोनों एक स्थान पर आए तो पहलेको दिग्-भ्रम हो गया और दूसरेको लकवा लग गया पहले वालेको जहां पूर्वकी ओर जाना चाहिए था किन्तु दिग्भ्रम होनेसे हव

पश्चिमकी ओर जाने लगा। वह तो समझता है कि मैं पूर्वकी ओर जा रहा हुँ पर वास्तव में वह उस दिशासे उतना ही दूर होता जा रहा है। और दूसरे लकवे वालेको हालांकी पश्चिमकी ओर जानेमे उतनी दिक्कत नहीं है; क्योंकि उसे तो दिशाका परिज्ञान है। वह धीरे धीरे अभीष्ट स्थान पर पहुँच ही जायगा। परन्तु पहले वालेको तो हो गया है दिग्भ्रम। अतः ज्यों ज्यों वह जाता है त्यों त्यों उसके लिए वह स्थान दूर होता जाता है। उसी तरह यह मोह मिथ्यात्व, मोक्षमार्गसे दूर ला पटकता है। शेष तीन घातिया कर्म तो जीवके उतने घातक नहीं। वे तो इस मोह-के नाश हो जानेसे शनै शनै क्षयको प्राप्त हो जाते हैं। पर बलवान है तो यह मोह मिथ्यत्व, जिसके द्वारा पदार्थोका स्वरूप विपरीत भासता है। जैसे किसीको कामला रोग हो जाय तो उसे अपने चारों ओर पीला ही पीला दिखता है। शंख यद्यपि श्वेत है परन्तु उसे पीला ही दिखलाता है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायका उदय होने से पदार्थ दूसरे रूप में दिखलाई देता है।

एक मनुष्य था। उसे कामला रोग होगया। वह दवा लेने वैद्यके पास गया। वैद्यने उसे मोती भस्म दी और कहा दूधमें घोलकर इसे पी लेना। वह घर पर आया और मां से बोला 'मां! एक गिलास दूध दे।' मां ने सोचा बेटा आज दवाई लाया है। एक स्वच्छ चांदीके गिलासमें दूध भर कर दे दिया। उसने पुड़िया खोलकर उसमे डाल दी। जब वह पीने लगा तो उसे

पीला ही गिलास, पीला ही दूध और पीली ही भस्म दिखलाई दी तुरन्त ही उसने गिलासको जमीन पर पटक दिया और मा से झल्लाकर बोला 'क्या मां घरमे एक भी गिलास चांदीका नहीं है यह दूध भी खराब लाकर रख दिया। वह वैद्यभी महा मूर्ख है जो उसने पीलीही दवाई दी।' ठीक यही हाल मिथ्यादृष्टिका होता है। वह शरीरके मरणमे अपना मरण शरीरके जन्ममे अपना जन्म और शरीरकी स्थितिमें अपनो स्थिति मान लेता है। कदाचित गुरुका उपदेश भी मिल जाय तो उसे विपरीत भासता है। इन्द्रियोंके सुखमे ही अपना सच्चा सुख समझता है। पुण्य भी करना है तो अगामी भोगोंकी वांछासे। ससारमे वह पूर्ण आसक्त रहता है और इसीलिए बहिरात्मा कहलाता है? मुझे यहां एक दृष्टान्त याद आ गया —

प० मथुराप्रसादजी थे। उनके साथ दो तीन आदमी और कही चले जा रहे थे, तो रास्तेमें एक मुसलमान को कुरान पढ़ते हुए देखा। वहा और भी बहुतसी भीड़ लगी हुई थी। उस कुरानको सुननेके लिए मथुरादासजी वही ठहर गए। मुसलमान की बोली तनिक सुन्दर होती है। उनके साथियोंने मथुरादासजी से कहा—'अरे, यहां तो कुरान बच रही है—चलो पण्डितजी यहा से तुरन्त चलो।' पण्डितजीने कहा—जरा ठहरो, थोड़ी बहुत कुरान सुनने दो। साथी बोले—'पण्डितजी! यहा तो कुरान बच रही है।' पण्डितजीने कहा—'हा भाई, मालूम है- बहुत अच्छी कहता है।' साथियोंने पुन. प्रश्न किया—पण्डितजी

आपतो देवशास्त्र गुरूके आराधक हैं, फिर यह कैसी अनुमोदना करते हो।' 'अच्छी बांचता है' पण्डितजीने उत्तर दिया। अच्छा कहता है उन्होंने पूछा—कैसे'। वह बोले—'अरे भाई तुम समझते नहीं हो, मिथ्यात्वके उदयमें ऐसाही होता है।

अत मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई अहितकर नहीं। इसके समान कोई बडा पाप नही। यही तो कर्मरूपी जलके आनेका सबसे बड़ा छिद्र है जो नावको ससाररूपी नदीमें डुबोता है। इसीके ही प्रसादसे कर्तृत्व-बुद्धि होती है। इसलिए यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो इस महान अनर्थकारी विपरीत बुद्धि को त्यागो। पदार्थोंका यथावत् श्रद्धान करो। देहमे आपा मनना ही देह धारण करनेका बीज है।

अब कहते हैं कि आत्मा स्वरूपसे निर्मल एवं शुद्ध है। उसमें परकृत कोई रागादिक विकार नहीं। और देखो आचार्योंने चार द्रव्योंको तो शुद्ध स्वरूप ही बतलाया है केवल जीव और पुद्गल में विभाव परिणति कही है। वैभाविक परिणतिसे दोनोंका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध भी हो रहा है पर यदि द्रव्यदृष्टिसे विचारो तो विदित हो जायगा कि जीवका एक अश भी पुद्गलमे नहीं गया और पुद्गलका एक अंश भी जीवमे नहीं आता। जैसे एक वस्त्र है। वह सूत और रेशमका बना हुआ है बाह्यमें वह अवश्य मिला हुआ एक वस्त्र दीख रहा है पर विचार करो तो उसमे सूत सूत है। इसी तरह रेशम रेशम ही है दोनो भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य हैं। जीवका परिणमन

जीवमें है और पुद्गलका परिणमन पुद्गलमें पुद्गलादि द्रव्य जीवका कुछ बिगाड या सुधार नही कर सकते। सब द्रव्य देखो स्वतत्र हैं, केवल अन्धकारमें रज्जुमें सर्पका भान हो रहा है। और रज्जु कभी सर्प होती नही; यह भी सिद्धान्त है। वैसे ही हम अनादिसे अनात्माको आत्मा मान बैठे हैं, सो अनात्मा तो आत्मा होता नहीं। यही अनादिसे अज्ञानकी भूल पडी है। उस पदार्थको जैसेका तैसा जान ले जब समझो सम्यग्दृष्टि है। और भइया जिसने पदार्थको समझ लिया, उसके राग द्वेष होता नहीं। वह समझता है कि मैं किससे राग-द्वेष करूं। सब पदार्थ अपने अपने स्वभावमे परिणमन कर रहे हैं। आत्माका स्वभाव आत्मामे है वह दूसरी जगह है कहा ? हा, उसमें जो रागद्वेषादि के विकल्प हैं, उन्हे हटाने का प्रयत्न है। जैसे गरम पानी है। उसके शीत गुणकी पर्याय उष्ण रूप है। तब उसे पुन; शीतल करनेके लिए एक बर्तनमे पसार कर पंखे से हवा कर देते हैं तो ठडा हो जाता है, क्योंकि शीतलता तो उसका स्वभाव ही है। वैसे ही ज्ञानादि गुणोंमें जो विकारी पर्याय रागद्वेष की हो रही हैं उन्हें हटानेकी आवश्यकता है। हटने पर शुद्ध स्वरूप सहज ही हो जायगा।

सचमुचमें सम्यक्त्वी रागद्वेषमई कलंक आत्माको अपने विशुद्ध परिणामोंके जलसे धो डालता है वह अपने समान दूसरों को जानता है। अपने कल्याणका वह इच्छुक है। स्व पर

उपकारमें तत्पर है—क्या वह दूसरोंका उपकार नहीं चाहेगा? राग-द्वेषसे बचना ही अपनी आत्माका सच्चा उपकार है। यही सम्यक्त्वीके लक्षण हैं। इसीसे तो सम्यक्त्वीकी पहिचान होती है। रामचन्द्रजी सम्यक्ज्ञानी थे। जब भइया, रावणके समस्त अस्त्र-शस्त्र विफल हो चुके तब अन्तमे उसने महा शस्त्र चक्रका उपयोग लक्ष्मण पर किया, परन्तु श्री लक्ष्मणके प्रबल पुण्यसे वह चक्र उनके हाथमे आगया। उस समय श्री रामचन्द्रजी महाराजने अति सरल-निष्कपट-मधुर परहित-रत वचनोंके द्वारा रावणको सम्बोधन कर यह कहा, कि हे रावण! अब भी कुछ नहीं गया, अपना चक्र रत्न वापिस ले लो, आपका राज्य है अत सब ही वापिस लो। आपके भ्राता कुम्भकर्ण आदि तथा पुत्र मेघनाथ जो हमारे यहा बन्दीरूप मे है उन्हे वापिस ले जाओ। आपका जो भाई विभीषण हमारे पक्षमे आगया है उसे भी सहर्ष ले जाओ—केवल सीताको दे दो। जो नरसंहारादि तुम्हारे निमितसे हुआ है उसकी भी हम अब ममालोचना नहीं करना चाहते। हम सीताको लेकर किसी वनमें कुटी बनाकर निवास करेंगे और तुम अपने राजमहलमें मन्दोदरी आदि पट्टरानियोंके साथ आनदसे जीवन बिताओ। देखो कैसे सरल भाव है? और बताओ सम्यक्त्वी क्या भाव रखे? यही नहीं. जब रावण बहुरूपणी विद्या सिद्ध कर रहा था तब किसीने आकर रामचन्द्रसे कहा—महाराज! वह तो विद्या सिद्ध कर रहा है। तब सरल परिणामी रामचन्द्र कहते हैं-सिद्ध करने दो, तुम उसकी सिद्धिमें क्यो किसी

प्रकारकी बाधा डालते हो ? और इसमें ज्यादा सम्यक्त्वीके क्या भाव होंगे ? बताओ। धन्य है वह वीर आत्मा जिसने अपनी आत्मामें सम्यग्दर्शन पैदाकर अनंत संसारकी संततिको छेद दिया है। वह अवश्यमेव मोक्षका पात्र है। संसारमें भी वही केवल सुखिया है।

कोई कहे कभी यह आत्मा शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ सो ऐसा नहीं है। कार्माण और तैजस शरीरोंका संयोग अनादिसे है, यद्यपि उनमें नए स्कंध मिलते हैं पुराने स्कंध छूटते हैं। जैसे स्वर्ण पाषाण है। उसमें किट्टिका और कालिमा लगी हुई है और वह इसी तरह खदानमें से निकाला गया। अब वह (स्वर्ण) कबसे अशुद्धावस्था में है—यह कौन कह सकता है ? इसीतरह अनादिसे आत्मा अशुद्धावस्थामें है। यदि वह शुद्ध होता तो फिर संसार कैसा ? सांख्यमतकी तरह आत्माको भी सर्वथा शुद्ध मत मानो। किन्तु आत्मा द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध और पर्यायदृष्टिसे अशुद्ध है इसमें कोई विरोध नहीं। वर्तमान पर्याय उसकी अशुद्ध ही माननी पड़ेगी। इसलिए उस अशुद्धावस्थाको मेटने का प्रयत्न आवश्यक है। जैसे साटा (गन्ना) है। उसमें मिश्री उतनी ही आकारमें विद्यमान है। पहिले उसका रस निकाला जाता है। फिर उसे गाढा कर शक्कर आदि करके मिश्री बनाते हैं। तो यह क्यों ? कितना उपद्रव करना पड़ता है। वैसे ही आत्मा तो शुद्ध है ही, पर वर्तमान पर्याय अशुद्ध होनेके कारण

महाव्रत धरना, तपश्चरण आदि करना पड़ता है। कोई कहे कि आत्मा जब शुद्ध है तो रागादिक क्यों होते हैं? इसका उत्तर यह है कि रागादि होना आत्माका स्वभाव नहीं, विभाव है जो स्वभाव होता है वह कभी मिटता नही। पारिणामिकभाव जीवका सदा बना रहता है पर विभाव मिट जाता है। जैसे किसीने मदिरा पान किया तो पागल हो गया और अंट सट बकने लगा। अब विचार करो कि क्या पागल होना उसका स्वभाव था? यदि स्वभाव था, तो वह सदा पागल क्यों नहीं बना रहता? और जब नशा उतर जाता है तब ज्योंका त्या हो जाता है। इससे मालूम हुआ कि पागलपन उसका स्वभाव नही था, मदिराके निमित्तसे ही पगालपन हुआ है। वैसे ही जीवके रागादिभाव पुद्गलके निमित्त द्वारा होते हैं लेकिन उसके स्वभाव नही है। यदि स्वाभाविक होते तो सदा बने रहते। अत मालूम पड़ता है कि वे औपाधिक हैं, विभाव हैं पराश्रित हैं, किन्तु पारिणामिक भाव सदा शाश्वत हैं इसलिए उपादेय हैं। क्रोधादिक परिणाम सब औदयिक है—कर्मोके उदयसें होते है, अत हेय है।

अध्यवसान भाव ही बंधका कारण हैं

अब कहते हैं कि अध्यवसान ही बधका कारण है। बाहिरी क्रिया कोई बंधका कारण नहीं है पर अन्तरंगमें जो विकारी भाव होते है वही बंधके कारण हैं। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे

किसीने किसीको मारडाला, तो मारनेसे बंध नहीं हुआ पर अन्तरंगमें जो उसके मारनेके भाव हुए उससे बंध हुआ। कोई पूछे कि बाह्य वस्तु जब बंधका कारण नहीं है तो उसका निषेध किस लिए किया जाता है कि बाह्य वस्तुका प्रसंग मत करो, त्याग करो। उसका समाधान यह है कि बंधका कारण निश्चय नयका अध्यवसान ही है और बाह्य वस्तुएं अध्यवसानका आलम्बन हैं उनकी सहायतासे अध्यवसान उत्पन्न होता है इसलिए अध्यवसान कारण कहा जाता है। बिना बाह्य वस्तुके अवलम्बनके निराश्रय अध्यवसान भाव नहीं उपजाता। इसीसे बाह्य वस्तुका त्याग कराया गया है।

हम पर पदार्थोंका त्याग करना ही सच्चा त्याग समझ लेते है। वास्तवमे पर पदार्थ हमारा है कहा जिसका हम त्याग करनेके हकदार कहलाते हैं, वह तो जुदा है। अत पर पदार्थका त्याग त्याग नहीं। सच्चा त्याग अन्तरंगकी मूर्छा है। हमने उस पदार्थसे अपनी मूर्छा हटाली तो उसका स्वत त्याग होगया। अत. प्रवृत्तिकी ओर मत जाओ, निवृत्ति पर ध्यान दो। कोई कहता है कि हमने १००) रुपयेका दान कर दिया। अरे मूरख,१००) रुपये तुम्हारे हैं कहां, जो तुमने दान कर दिए। वे तो जुदे ही थे। अपनी तिजोड़ीसे निकालकर दानशालामे धर दिए। तो रुपयोंका त्याग करना दान देना नहीं हुआ, पर अन्तरंगमे जो तुम्हारी मूर्छा उन रुपयोंके प्रति लग रही थी वह दूर होगई। अतः मूर्छाका

त्याग करना वास्तविक त्याग कहलाया। कोई कहता है कि हमने इतने परिग्रहका त्याग कर दिया, अमुक परिग्रहका प्रमाण कर लिया तो क्या वह परिग्रहका प्रमाण होगया ? नहीं। परिग्रह-प्रमाणव्रत नहीं हुआ। परिग्रहप्रमाणव्रत तब हुआ जब तुम्हारी इच्छा उतनी कम होगई। तुम्हारा मन जो दौड धूप कर रहा था अब उतने मन पर कन्ट्रोल होगया। उस पर विजय पाली अत इच्छा जितनी कम हुई उतना प्रमाण हुआ इसलिए त्याग कहलाया।

अब यह कहना कि 'मैं इसको जिलाता हूँ और इसको मारता हूँ' तो आचार्य कहते है कि यह मिथ्या अभिप्राय है। कोई किसीको मारता और जिलाता नही है। सब अपनी अपनी आयुसे जीवित रहत है और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरणको प्राप्त होते है। आचार्य कहते है 'अरे, क्या तेरे हाथमे आयु है जो तू दूसरे को जिलाता तथा मारता है ? निश्चय नय कर जीवके मरण है वह अपने आयु कर्मके क्षयसे होता है। और अपना आयु कर्म अन्य कर हरा नहीं जा सकता। इसलिए अन्य अन्यका मरण कैसे कर सकता है ? इसी तरह जीवोका जीवन भी अपने आयु कर्मके उदयसे ही है।

अब जिसका ऐसा मानना है कि मैं पर जीवको सुखी दुखी करता हूँ, और मुझ पर जीव सुखी दुखी करते है, यह भी मानना अज्ञान है। क्योंकि ? सुख दुख सब जीवोका अपने कर्मके उदयसे

होता है, और वह कर्म अपने अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है। इस कारण एक दूसरेको सुख दुख कैसे दे सकता है? मैना सुन्दरीको ही देखो! अपने पितासे स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने भाग्यसे खाती हूँ। उसके पिताने श्रीपाल कुष्टीसे उसका विवाह कर दिया। पर मैनाने सिद्धचक्रका विधान रचकर उसका भी कोढ़ दूर कर दिया। पर विचार करो 'क्या उसने पतिका कोढ़ दूर किया?' अरे, उसके पुण्यका उदय था कोढ़ दूर होगया। उसका मिलना था निमित्त सो मिल गया। पर क्या वह ऐसा नहीं जानती थी? अत सब अपने भाग्यसे सुखी और दुखी हैं। समयसारमें लिखा है —

> सर्वं सदैव नियत भवति स्वकीय-
> कर्मोदयान्मरण जीवित दु ख-सौख्य ॥
> अज्ञानमेतदिह यत्तु पर. परस्य।
> कुर्यात् पुमान मरण जीवित दु ख-सौख्यम् ॥

इस लोकमे जीवोंके जो मरण, जीवन, दु.ख और सुख होते हैं वे सब स्वीकीय कर्मोंके उदयसे होते हैं, ऐसा होने पर भी जो ऐसा मानते हैं कि परके द्वारा परके जीवन मरण दु ख और सुख होते है---यह अज्ञान है।

कोई कहे कि 'मैं इसको मोचन करता हूँ और इसको बांधता हूँ' तो यह भी मिथ्या है। तुमने अपना अभिप्राय तो ऐसा कर

लिया कि 'येनं' मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ; और 'येन' बन्धयामि' मैं इसको बांधता हूँ।' पर जिससे ऐसा कहा कि 'येनं' मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ और उसने सरागपरिणाम कर लिया तो कहां वह मुक्त हुआ ? और जिससे ऐसा कहा कि 'येनं' बन्धयामि' मैं इसको बाधता हूँ उसने वीतराग परिणाम कर लिए तो वह मुक्त होगया। और तुमने कुछ भी अभिप्राय नहीं किया। एकने सरागपरिणाम कर लिए और दूसरेने वीतराग भाव कर लिए, तो पहिला बन्ध गया और दूसरा मुक्त होगया। इसलिए यह बंधन क्रिया और मोचन क्रिया तुम्हारे हाथकी बात नहीं है। तुम अपने पदार्थके स्वामी हो और पर पदार्थ अपनेका है। तुम दूसरे पदार्थको अपनी इच्छानुकूल परिणमाना चाहो तो वह त्रिकाल में नहीं हो सकता। अतः 'येन' मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ और 'येन' बन्धयामि' मैं इसको बाधता हूँ ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है और उससे उल्टा कर्मका बन्धन होता है। हां, तुम अपना अभिप्राय निर्मल रक्खो। दूसरा चाहे कुछ भी अभिप्राय रक्खे। और देखो सब अभिप्राय की ही बात है। निर्मल अभिप्राय ही मोक्षमार्ग है। तुम पाठ पूजन खूब करो पर अभिप्राय निर्मल नहीं तो कुछ नहीं। अब देखो तुम कहते हो न 'प्रभु पतित पावन।' अरे, प्रभु थोड़े ही पावन है। तुमने उतने अंशमें अपने अभिप्राय निर्मल कर लिए, तुम्हीं पतितसे पावन होगए। प्रभु क्या पावन होंगे। तुमने प्रभुको

कारण बना लिया, पर कार्य हुआ तुममें। इसीलिए कविवर पं० दौलतरामजी अपनी स्तुतिमे लिखते हैं कि:—

मुझ कारजके कारण सु आप।
सो करो हरो मम मोह ताप॥

और भइया भगवानकी महिमाको कौन जान सकता है। भगवानकी महिमा भगवान्‌ही जाने। हम मोही जीव उनकी महिमाको क्या जान सकते है, तो प्रयोजनीय बात इतनी ही है कि पर पदार्थ हमारी श्रद्धामे आ जाय कि ये हमारी चीज नही है तो फिर ससार बधनसे छूटनेमे कोई बड़ी बात नहीं है। समझले रागद्वेषादिक परकृत विकार हैं, मेरे शुद्ध स्वभावको घातने वाले हैं इसिलए छोड़नेका प्रयत्न करे। सम्यक्त्वीके यही श्रद्धान तो दृढ़ हो जाता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा तो स्वच्छ स्फटिक समान है। ये जितने भी औपाधिक भाव होते हैं, वे मोहके निमित्तसे होते हैं। अत उन्हें छोड़नेका पूर्ण प्रयत्न करता है। हम लोग चारित्रके पालनमे आतुर हो जाते हैं। अरे, चारित्रमे क्या है, सबसे बड़ी श्रद्धा है। भगवान् आदिनाथने ८३ लाख पूर्व गृहस्थीमे व्यतीत कर दिए। एक पुत्रको इस बगलमे बिठालते रहे है दूसरेको दूसरी बगलमे। नाना प्रारकी ज्योतिष और गणितविद्या भी बतलाते रहे हैं। यह सब क्या, परन्तु बन्धुओ, चारित्रमोहकी मंदता हुई तो घर छोड़नेमे देर न लगी। तो हमे चारित्रमे इतना यत्न न करना चाहिए। चारित्र तो

कालान्तर पाके हो ही जायगा। चारित्र पालनेमें उतनी बढ़ाई नही है जितनी श्रद्धा लानेमे। श्रद्धामे अमोघ शक्ति है। यथार्थ श्रद्धा ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्वीके श्रद्धाकी ही तो महिमा होती है। वह परपदार्थोका भोग नहीं करता सो बात नही है। पर श्रद्धामे जान जाता है कि 'अरे' यह तो पराई है।' अब देखिए लडकी जब पैदा होती है तब मा अन्तरंगमे जानही तो जाती है कि यह पराई है। वह उसका पालन पोषण नही करती सो बात नही है वह पालती है, उसे बड़ा करती है, उसका विवाह भी रचाती है और जब पर घर जानेको होती है तब रोती भी है चिल्लाती है और थोडी दूर तक साथ भी जाती है, पर कब तक ? यही हाल उसका होता है। वह भोग भोगता है, युद्ध करता है, अदालतमे मुकदमा भी लडता है पर कब तक ? और हम आपसे पूछते है, उनके काहेके भोग है ? बिल्ली चूहेको पकड़ लेती है और लाठी मारने पर भी नही छोडती, भोग तो वह कहलाते है। और हरिण मुखमे तृण लिए हुए है पर यो ताली फटकारी चौकड़ी भर कर भाग खड़ा हुआ तो वह काहे का भोग ? भोग तो वही है जिसमे आसक्ति हो, उसमे उपादेय बुद्धि हो। अब मुनिको ही देखो। क्या उनके स्त्री परीषह नही होती ? होती है, पर जैसी हमको होती है वैसी उनको नहीं है। क्या उनको क्षुधाका वेदन नही होता ? यदि वेदन नही होता तो आहार लेनेके वास्ते जाते ही क्यों है ? क्षुधाका वेदन होता है पर वह उस चालका नहीं

है। निरन्तराय भोजन मिला तो कर लिया नहीं तो वापिस लौट आते हैं। किसी कविने कहा है —

अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे कथ न हि।
धर्मार्थकाममोक्षाणा चतुर्णां परिपन्थिनि।

यदि अपराधी व्यक्ति पर क्रोध करते हो तो सबसे बड़ा अपराधी क्रोध है, उसी पर क्रोध करना चाहिए, क्योंकि वह धर्म, अर्थ काम और मोक्षका शत्रु है। अच्छा बतलाओ किस पर तोष-रोष करे। हम जितने भी पदार्थ ससारमें देखते है, सब अचेतन ही तो हैं और चेतन है सो दिखता नही है। जैसे हमने तुम पर क्रोध किया, तो क्रोध जिस पर किया वह तो अचेतन है और जिस पर करना चाहते हो वह दिखता नहीं, अमूर्तिक है। अतः हमारी समझमें तो रागद्वेषादिक करना सब व्यर्थ है। अपना कल्याण करे दुनियाको न देखे। जो दुनियांको तो शिक्षा करे और अपनी ओर न देखे तो उससे क्या लाभ? अरे, अनादि-कालसे हमने परको बनानेकी कोशिश की है और फिर भी परको बनानेसे अपनेको चतुर समझते हैं तो उस चतुराईको धिक्कार है जो दूसरेको उपदेश करे, व अपने आत्माके हितका नाश करे। उस आखसे क्या लाभ, जिसके होते हुए भी गड्ढेमें गिर पडे। उस ज्ञानसे भी क्या जो ज्ञानी होकर विषयोके भीतर पड़ जावे। इसलिए केवल अपनेको बनाए। जिसने अपनेको नहीं बनाया वह दूसरोंको भी क्या बना सकता है? अपनेको बनाना ही ससार बधनसे छूटनेका प्रयास है। यही मोक्षकी कुजी है।

एक धुनियां था। वह कहीं कामसे चला जा रहा था। मार्गमें उसने रूईसे भरे जहाजोंको आते हुए देख लिया। उसने सोचा 'हाय! यह तो मुझे ही धुननी पडेगी।' ऐसा सोचते ही घरमें आकर वह बीमार पड़ गया। उसके लडकेने पूछा—पिता जी! क्या बात होगई?' वह बोला—'कुछ नहीं! वैसे ही तबियत खराब होगई है।' लडकेने बहुत डाक्टरों और वैद्योंका इलाज करवाया पर वह अच्छा न हुआ। अन्तमे एक आदमीको मालूम पड़ा और उसने लड़के से पूछा—'तेरे पिताजीकी कैसी तबियत है?' वह बोला— कुछ नहीं, उन्होंने कहीं रुईसे भरे हुए जहाजोको देख लिया है, इस कारण बीमार पड़ गए हैं। उस आदमीने सोचा कि अरे वह धुनिया तो है ही, शायद उसने समझा होगा कि यह रुई कहीं मुझे ही न धुननी पडे। वह (प्रकट मे) बोला—देखो, हम तुम्हारे पिताजीको अच्छा कर देंगे लेकिन १००) रुपये लेंगे। लड़केने मंजूर कर लिया।

उस आदमीने उसी समय उसके घर जाकर एक गिलास पानी लिया और कुछ मंत्र पढ़कर कुछ राख डाल कर धुनियासे बोला इस गिलासका पानी पी जाओ। उस धुनिएने वैसा ही किया और वह पानी पी लिया। तब वह आदमी बोला—'देखो' उन रुईसे भरे हुए जहाजोंमें आग लग गई।' इतना कहना था कि वह (धुनिया) झट बोल उठा—'क्या सचमुच उन जहाजोंमें आग लग गई।' उसने कहा—'हां'। तुरन्त ही वह भला-चंगा होगया। इसी प्रकार हम भी परपदार्थोंका लक्ष्यकर यह सोच रहे

हैं कि हमें यह करना है और वह करना है—इस कारण रोगी बने हुए हैं। और जब अपने स्वरूप पर दृष्टिपात करते है तो हमें कुछ नहीं करना है। केवल अपने पदको पहचानना है।

आत्माका ज्ञान स्वभाव

अब बतलाते हैं कि आत्माका ज्ञान स्वभाव लक्षण है। लक्षण वही जो लक्ष्यमे पाया जावे। तो आत्माका लक्षण ज्ञान ही है जिससे लक्ष्य आत्माकी सिद्धि होती है। वैसे तो आत्मामे अनंत-गुण हैं जैसे दर्शन, चरित्र, वीर्य, सुख इत्यादि पर इन सब गुणोंको बतलाने वाला कौन है? एक ज्ञान ही है। मैं धनी, निर्धन, रंक, राव, मनुष्य, स्त्री इनको कौन जानता है? केवल एक ज्ञान। ज्ञानही आत्माका असाधारण लक्षण है। दोनों (आत्मा और ज्ञान) के प्रदेशोंमें अभेदपना है। ज्ञानीजन ज्ञानमें ही लीन रहते और परमानन्दका अनुभव करते हैं। वह अन्यत्र नहीं भटकते। और परमार्थसे विचारो तो केवल ज्ञानके सिवाय अपना है क्या? हम पदार्थोका भोग करते हैं, व्यंज-नादिके स्वाद लेते हैं उसमे ज्ञानका ही तो परिणमन होता है। यदि ज्ञानोपयोग हमारा दूसरी ओर होय तो सुन्दरसे सुन्दर विषय सामग्री भी हमको नहीं सुहावे। तो उस ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। वह कैसा है? दर्पणवत् निर्मल है। जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं? वैसे ही ज्ञानमें ज्ञेय स्वयंमेव झलकते हैं

एक धुनियां था। वह कहीं कामसे चला जा रहा था। मार्गमे उसने रूईसे भरे जहाजोंको आते हुए देख लिया। उसने सोचा 'हाय! यह तो मुझे ही धुननी पडेगी।' ऐसा सोचते ही घरमें आकर वह बीमार पड गया। उसके लड़केने पूछा—पिता जी! क्या बात होगई ?' वह बोला—'कुछ नहीं! वैसे ही तबियत खराब होगई है।' लडकेने बहुत डाक्टरों और वैद्योंका इलाज करवाया पर वह अच्छा न हुआ। अन्तमे एक आदमीको मालूम पड़ा और उसने लडकेसे पूछा—'तेरे पिताजीकी कैसी तबियत है ?' वह बोला—कुछ नहीं, उन्होंने कहीं रूईसे भरे हुए जहाजोको देख लिया है, इस कारण बीमार पड़ गए है। उस आदमीने सोचा कि अरे वह धुनिया तो है ही, शायद उसने समझा होगा कि यह रुई कही मुझे ही न धुननी पडे। वह (प्रकट मे) बोला—देखो, हम तुम्हारे पिताजीको अच्छा कर देंगे लेकिन १००) रुपये लेंगे। लडकेने मंजूर कर लिया।

उस आदमीने उसी समय उसके घर जाकर एक गिलास पानी लिया और कुछ मत्र पढ़कर कुछ राख डाल कर धुनियासे बोला इस गिलासका पानी पी जाओ। उस धुनिएने वैसा ही किया और वह पानी पी लिया। तब वह आदमी बोला—'देखो' उन रूईसे भरे हुए जहाजोंमे आग लग गई।' इतना कहना था कि वह (धुनिया) झट बोल उठा—'क्या सचमुच उन जहाजोमें आग लग गई।' उसने कहा—'हां'। तुरन्त ही वह भला-चंगा होगया। इसी प्रकार हम भी परपदार्थोंका लक्ष्यकर यह सोच रहे

हैं कि हमें यह करना है और वह करना है—इस कारण रोगी बने हुए हैं। और जब अपने स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें कुछ नहीं करना है। केवल अपने पदको पहचानना है।

आत्माका ज्ञान स्वभाव

अब बतलाते हैं कि आत्माका ज्ञान स्वभाव लक्षण है। लक्षण वही जो लक्ष्यमें पाया जावे। तो आत्माका लक्षण ज्ञान ही है जिससे लक्ष्य आत्माकी सिद्धि होती है। वैसे तो आत्मामें अनंत-गुण हैं जैसे दर्शन, चरित्र, वीर्य, सुख इत्यादि पर इन सब गुणोंको बतलाने वाला कौन है? एक ज्ञान ही है। मैं धनी, निर्धन, रंक, राव, मनुष्य, स्त्री इनको कौन जानता है? केवल एक ज्ञान। ज्ञानही आत्माका असाधारण लक्षण है। दोनों (आत्मा और ज्ञान) के प्रदेशोंमें अभेदपना है। ज्ञानीजन ज्ञानमे ही लीन रहते और परमानन्दका अनुभव करते हैं। वह अन्यत्र नहीं भटकते। और परमार्थसे विचारो तो केवल ज्ञानके सिवाय अपना है क्या? हम पदार्थोंका भोग करते हैं, व्यंज-नादिके स्वाद लेते हैं उसमे ज्ञानका ही तो परिणमन होता है। यदि ज्ञानोपयोग हमारा दूसरी ओर होय तो सुन्दरसे सुन्दर विषय सामग्री भी हमको नहीं सुहावे। तो उस ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। वह कैसा है? दर्पणवत् निर्मल है। जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं? वैसे ही ज्ञानमे ज्ञेय स्वयंमेव झलकते हैं

तो भी ज्ञानमे उन ज्ञेयोका प्रवेश नहीं होता। अब देखो, दर्पण के सामने शेर गुंजार करता है तो क्या शेर दर्पणमें चला जाता है ? नहीं। केवल दर्पणका परिणमन शेरके आकार अवश्य हो जाता है। दर्पण अपनी जगह पर है, शेर अपने स्थान पर है। उसी तरह ज्ञानमे ज्ञेय झलकने तो झलको उसका स्वभाव ही देखना और जानना है इसका कोई क्या करे ? हा रागादिक करना यही बंधका जनक है। हम इनको देखते हैं उनको देखते हैं और सबको देखते है तो देखो पर अमुक रूचि गया उससे राग और अमुकसे अरूचि हुई उससे द्वेष कर लिया यह कहाका न्याय है ? बताओ। अरे उस ज्ञानका काम केवल देखना और जानना मात्र था, सो देख लिया और जान लिया। चलो छुट्टा पाई। ज्ञानको ज्ञान रहने देनेका ही उपदेश है। उसमे कोई प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पना करनेको नहीं कहा। पर हम लाग ज्ञानको ज्ञान कहा रहने देते है। मुश्किल तो यह पड़ी है।

भगवान्को देखा और जाओ। यादि उनसे रागकर लिया तो जाओ स्वर्गमे और द्वेषकर लिया तो पड़ो नरकमे। इससे मध्यस्थ रहो। उन्हे देखो और जानो। जैसे प्रदर्शनीमे वस्तुएं केवल देखने और जाननेके लिए होती है वैसे ही ससारके पदार्थ भी केवल देखने और जाननेके लिए हैं। प्रदर्शनीमे यदि एक भी वस्तुकी चोरी करो तो बधना पड़ता है उसी प्रकार संसारके

पदार्थोका ग्रहण करनेकी अभिलाषा करो तो बंधन है अन्यथा देखो और जानो। अभी स्त्री बीमार पडी है तो उसके मोहमें व्याकुल होगए। दवाई लानेकी चिन्ता होगई, क्योंकि उसे अपनी मान लिया, नहीं तो देखो और जानो। निजत्वकी कल्पना करना ही दु:खका कारण है।

'समयसार' मे एक शिष्यने आचार्यसे प्रश्न किया--महाराज! यदि आत्मा ज्ञानी है तो उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं और अज्ञानी है तो उसे उपदेश की आवश्यकता नही। आचार्यने कहा कि जब तक कर्म और नोकर्मको अपनाते रहोगे अर्थात् पराश्रित बुद्धि रहेगी तब तक तुम अज्ञानी हो और जब स्वाश्रित बुद्धि हो जायगी तभी तुम ज्ञानी हो।

एक मनुष्यके यहाँ दामाद और उसका लड़का आता है। लड़का तो स्वेच्छासे इधर उधर पर्यटन करता है। परन्तु दामादका यद्यपि अत्यधिक आदर होता है तब भी वह सिकुड़ा सिकुड़ा सा घूमता है। अतएव स्वाश्रित बुद्धि ही कल्याणप्रद है। आचार्यने वही एक शुद्धज्ञान--स्वरूपमे लीन रहनेका उपदेश दिया है। जैसा कि नाटक समयसारमें लिखा है.—

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं।
यायात्कामपि विक्रिया तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव॥
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्धधिषणा एते किमज्ञानिनो।
रागद्वेषमयी भवंति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम्॥२६॥

यह ज्ञानी पूर्ण एक अच्युत शुद्ध (विकारसे रहित) ऐसे ज्ञानस्वरूप जिसकी महिमा है ऐसा है। ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंसे कुछ भी विकारको नहीं प्राप्त होता। जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादि पदार्थोंसे विकारको नहीं प्राप्त होता उस तरह। ऐसी वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानकर रहित जिनकी बुद्धि है ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनताको क्यों छोड़ते हैं और रागद्वेषमय क्यों होते हैं? ऐसा आचार्यने सोच किया है।

कुछ लोग ज्ञानावरणी कर्मके उदयको अपना घातक मान दुखी होते हैं। तो कहते हैं कि कर्मके उदयमें दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। अरे जितना क्षयोपशम है उसीमें आनंद मानो। पर हम मानते कहां हैं? सर्वज्ञता लानेका प्रयास जो करते हैं। अब हम आपसे पूछते हैं, सर्वज्ञतामें क्या है? हमने इतना देख लिया और जान लिया तो हमें कौन सा सुख होगया? तो देखने और जाननेमें सुख नहीं है। सुखका कारण उनमें रागादिक न होने देना है। सर्वज्ञ भी देखो अनंत पदार्थोंको देखते और जानते हैं पर रागादिक नहीं करते, इसलिये पूर्ण सुखी हैं। अतः देखने और जाननेकी महिमा नहीं है। महिमा तो रागादिकके अभावमें ही है।

लेकिन हम चाहते हैं कि रागादिक छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जावे तो यह कैसे बने? मूली खाओ और केशरका स्वाद भी आ जाय, यह कैसे हो सकता है? रागादिक तो दुखके ही कारण हैं उनमें यदि सुख चाहो तो वैसे

मिल सकता है ? राग तो सर्वथा हेय ही है। अनादि कालसे हमने आत्माके उस स्वाभाविक सुखका स्वाद नही जाना, इसलिए रागके द्वारा उत्पन्न किंचित् सुखको ही वास्तविक सुख समझ लिया। आचार्य कहते हैं कि अरे उस सुखका कुछ तो अनुभव करो। अब देखो, कड़ुवी दवाको मां कहती है न 'बेटा इसे आख मीच कर पी जाओ।' अरे, आख मीचनेसे कहीं कड़ुवापन तो नहीं मिट जायगा ? पर कहती है कि बेटा पी जाओ। वैसे ही उस सुखका किंचित् भी तो अनुभव करो। पर हम चाहते हैं कि बच्चोंसे मोह छोडना न पडे और उस सुखका अनुभव भी हो जाय। 'हल्दी लगे न फिटकरी रग चोखा आ जाय।' अच्छा, बच्चोंसे मोह मत छोडो तो उस स्वात्मीक सुखका तो घात मत करो। पर क्या है ? उधर दृष्टि नहीं देते इसीलिए दुखके पात्र हैं।

और भइया, ऐसी बात नहीं है कि किसीके रागादिक घटते न होय। अभी ससारमे ऐसे प्राणी हैं जो रागादिक छोड़नेका शक्ति भर प्रयास करते हैं। पर सिद्धान्त यही कहता है कि रागादिक छोड़ना ही सर्वस्व है। जिसने इन्हें दुखदायी समझकर त्याग दिया, वही हम तो कहते है 'धन्य है'। कहने सुननेसे क्या होता है ? इतने जनोंने शास्त्र श्रवण किया तो क्या सबके रागादिकोंकी निवृत्ति होगई ? अब देखो आल्हा ऊदलकी कथा बाचते हैं तो वहां कहते हैं यो मारा, यों काटा पर यहां किसीके एक

तमाचा तक नहीं लगा। तो कवल कहनेसे कुछ नहीं होता। जिसने रागादिक त्याग दिए बस उसीको मजा है। जैसे कदोई (हलवाई) मिठाई तो बनाता है पर उनके स्वादको नहीं जानता। वैसे ही शास्त्र बांचना तो मिठाई बनाना है पर जिसने चख लिया बस उसीको ही मजा है।

आत्माका आवृत स्वरूप

अब कहते हैं कि आत्मामे अनन्तशक्ति तिरोभूत है। जैसे सूर्यका प्रकाश मेघपटलोसे आच्छादित होने पर अप्रकट रहता है वैसे ही कर्मोंके आवरणसे आत्माकी अनंत शक्तिया प्रकट नही होतीं। जिस समय आवरण हट जाते हैं उसी समय वे शक्तियां पूर्णरूपेण विकसित हो जाती हैं। देखो, निगोदसे लेकर मनुष्य पर्याय धारण कर मुक्तिके पात्र बन, इससे आत्माकी अचिन्त्य शक्ति ही तो विदित होती है। अत हमे उस (आत्मा) को जाननेका अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिये। जैसे बालक मिट्टीके खिलोने बनाते और फिर बिगाड़ देते है वैसे ही हम ही ने ससार बनाया और हम ही यदि चाहे तो ससारसे मुक्त हो सकते है। एक स्थान पर लिखा है —

सकल्प कल्पतरूसश्रयणात्त्वदीयं।
चेतो निमज्जति मनोरथसागरेस्मिन ॥
तत्रार्थस्तव चकास्ति न किञ्चनापि।
पत्ते पर भवमि कल्पसश्रयस्य ॥

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते हैं। अरे, उनमेंसे एक मनोरथ मुक्तिका भी नहीं। वास्तवमें हमारे सब मनोरथ बालूकी भीतिकी भांति ढह जाते हैं, यह सब मोहोदयकी विचित्रता है। जहां मोह गला वहां कोई मनोरथ नहीं रह जाता। हम रात्रि दिन पापाचार करते हैं और भगवानसे प्रार्थना करते हैं कि भगवान हमारे पाप क्षमा करना। अरे, भगवान तुम्हारे पाप क्षमा करें। पाप करो तुम भगवान क्षमा करें—यह भी कहीं का न्याय है? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल भइया उसीको भुगतना पड़ेगा। भगवान तुम्हें कोई मुक्ति नहीं पहुंचा देंगे। मुक्ति जाओगे तुम अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाय तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था। उसकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त होगया। वह बड़ा दुखी हुआ। एक आदमीने उससे कहा अरे, 'बहुतोंकी स्त्रियां मरती हैं, तू इतना बेचैन क्यों होता है? वह बोला तुम समझते नहीं हो। उसमें मेरी शुभ बुद्धि लगी है इसीलिए मैं दुखी हूँ। दुनियाकी स्त्रियां मरती हैं तो उनसे मेरा ममत्व नहीं,— इसहीमें मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला 'अरे, तुझमें जब अहंबुद्धि है तभी तो मम बुद्धि करता है। यदि तेरे में अहं-बुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे? तो अहंबुद्धि और ममबुद्धि को मिटाओ, पर अहंबुद्धि और ममबुद्धि जिसमें होती है, उसे तो जानो। देखो लोकमें वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो

अपना नाम, अपने गांवका नाम, अपने व्यवसायका नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थसे वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिए अपनेको जानो। तुम हो जभी तो सारा संसार है। आंख मीचलो तो कुछ नही। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पडा रह जाता है और फिर पञ्चेन्द्रियां अपने अपने विषयोंमे क्यो नही प्रवर्तती ? इससे मालूम पडता है कि उस आत्मामे एक चेतनाका ही चमत्कार है। उस चेतनाको जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोहमे ही इन सबको हम अपना मानते हैं। एक मनुष्यने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढिया भोजन बनाओ हम अभी खानेको आते हैं। जरा बाजार हो आएँ। अब मार्गमे चले तो वहां मुनिराजका होगया समागम। उपदेश पात ही वह भी मुनि होगया। और वही मुनि बनकर आहारके वास्ते वहीं आगए। तो देखो उस समय वैराग्य अभिप्राय था अब कैसे भाव होगए चक्रवर्तीको ही देखो। वह छह खंडको मोहमे ही तो पकडे है। जब वैराग्य उदय होता है तो सारी विभूतिको छोड वनवासी बन जाता है। तो देखो उस इच्छाको ही तो वह मिटा देता है कि 'इदम् मम' यह मेरा है। वह इच्छा मिट गई अब छः खंडको बताओ कौन संभाले ? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे ? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके दिया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज ही नही है। तुम कदाचित् यह जानते हो कि यदि हम दान न देवे तो उसे कौन

दे ? अरे उसके पुण्यका उदय होयगा तो दूसरा दान दे देगा फिर ममत्व बुद्धि रखके क्यों दान देता है ? वास्तवमे तो कोई किसीकी चीज नही है। व्यर्थ ही अभिमान करता है। अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरेकी चीजको अपनी मानकर कब तक सुखी रह सकता है ? जो चीज तुम्हारी है उसीमे सुख मानो।

महादेवजीके कार्तिकेय और गणेश नामक दो पुत्र थे। एक दिन महादेवजीने उनसे कहा' 'जाओ, वसुन्धराकी परिक्रमा कर आओ'। तब कार्तिकेय और गणेश दोनों हाथ पकड कर दौडे! गणेशजी तो पीछे रह गए और कार्तिकेय बहुत आगे चले गए। गणेशजीने यहीं पर महादेवजीकी ही परिक्रमा करली। जब कार्तिकेय लौटे और महादेवजीने गणेशजीकी ओर संकेत कर कहा 'यह पहिले आए' तो कार्तिकेयने पूछा 'यह पहिले कैसे आए ? बताइए।' उसी समय उन्होंने अपना मुंह फाड़ दिया जिसमे तीनों लोक दिखने लगे। महादेवजी बोले 'देखो इन्होने तीनों लोकोंकी परिक्रमा करली।' तो भइया उस केवलज्ञानकी इतनी बडी महिमा है कि जिसमे तीनों लोकोंकी चराचर वस्तुएँ भासमान होने लगती है। हाथीके पैरमे बताओ किसका पैर नहीं समाता–ऊंटका घोड़का सबोंका पैर समा जाता है। अत उस ज्ञानकी बडी शक्ति है। और वह ज्ञान तभी पैदा होता है जब हम अपनेको जाने। पर पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको

हटाकर अपनेमें संयोजित करे। देखो समुद्रसे मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानीके रूपमे बरस पड़ते हैं। तो पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलता है। पानी जब बरसा तो देखो रावी चिनाव झेलम सतलज होता हुआ फिर उसी समुद्रमे जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमे जो यत्र तत्र चतुर्दिक भ्रमण कर रही थी ज्योंहीं वह मोह मिटा तो वही आत्मा अपनेमे सिकुडकर अपनेमे ही समा जाती हैं। यों ही केवल ज्ञान होता है। ज्ञानको सब पर पदार्थोंसे हटाकर अपनेमे ही संयोजित कर दिया—बस केवल ज्ञान हो गया। और क्या है ?

हम पर पदार्थोमे सुख मानते हैं। पर उसमें सच्चा सुख नहीं हैं। मड़ावराकी बात है। वहा से ललितपुर ३६ कोसकी दूरी पर पडता है। वहां सर्दी बहुत पडती है। एक समय कुछ यात्री जा रहे थे। जब बीचमे उन्हे अधिक सर्दी मालूम हुई तो इन लोगोंने जंगलसे घास फूस इकट्ठा किया और उसमें दिया-सलाई लगा आंचसे तापने लगे। ऊपर वृक्षों पर बन्दर बैठे हुए यह कौतुक देख रहे थे। जब वे यात्री लोग चले गए तो बन्दर ऊपरसे उतरे और उन्होंने वैसा ही घास फूस इकट्ठा कर लिया। अब कुछ घिसनेको चाहिए तो दियासलाईकी जगह वे जुगनूको पकड़कर लाए और घिसकर डाल दें पर आंच नहीं सुलगे। बार बार वे उन्हें पकड़कर लाएं और फिर घिसकर डाल दें पर आंच सुलगे तो कैसे सुलगे। इसी तरह पर पदार्थोंमे सुख मिले तो कैसे मिले ? वहा तो आकुलता ही मिलेगी और आकुलतामे सुख

का ? तुम्हें आकुलता हुई कि चलो मन्दिरमे पूजा कर और फिर शास्त्र श्रवण करें। तो जब तक तुम पूजा करके शास्त्र नहीं सुन लोगे तब तक तुम्हे सुख नहीं हैं, क्योंकि आकुलता लगी है। उसी आकुलताको मिटानेके लिए तुम्हारा सारा परिश्रम है। तुम्हें दुकान खोलनेकी आकुलता हुई। दुकान खोल ली चलो आकुलता मिट गई। तुम्हारे जितने भी कार्य हैं सब आकुलताको मेटनेके जाने हैं। तो आकुलतामे सुख नही। आत्माका सुख निराकुल है वह कहीं नहीं है, अपनी आत्मामें ही विद्यमान है। एक क्षण पर पदार्थोंसे राग द्वेष हटाकर देखा तो तुम्हे आत्मामे निराकुल सुख प्रकट होगा। यह नहीं, अब कार्य करे और फल बादको मिले। जिस क्षण तुम्हारे वीतराग भाव होंगे तत्क्षण तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी। आत्माकी विलक्षण महिमा है। कहना तो सरल है पर जिसने प्राप्त कर लिया वही धन्य है। और जितना पढ़ना लिखना है उसी आत्माको पहिचाननेके अर्थ है। कहीं किताबोंसे भी ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान तुम्हारी आत्मामे है। पुस्तकोंका निमित्त पाकर वह विकसित हो जाता है। वैराग्य कहीं नहीं धरा? तुम्हारी आत्मामे ही विद्यमान है। अत जैसे बने वैसे उस आत्माको पहिचानो।

एक कोरी था। उसे कहींसे एक पाजामा मिल गया। उसने पाजामा कभी पहिना तो था नही। वह कभी सिरसे उसे पहिनता तो ठीक नहीं बैठता। कभी कमरसे लपेट लेता तो भी ठीक नहीं

बैठता। एक दिन उसने ज्योंही एक पैर एक पाजामेमे और दूसरा पैर दूसरेमें डाला तो ठीक बैठ गया। बड़ा खुशी हुआ। इसी तरह हम भी इतस्ततः भ्रमण कर दुखी हो रहे हैं। पर जिस काल हमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तभी हमे सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए उसकी प्राप्तिका निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

रागादिक ही दुःखके कारण हैं

अब कहते हैं कि आत्माको रागादिक परिणाम ही दुःखदायी हैं। रागका किंचित् सद्भाव भी मनुष्यके लिए अहितकर है। जैसा कि लिखा है.—

"परमाणु मित्तयं पिहु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणादि अप्पा-णयं तु सव्वागम धरो वि ॥२०१॥

यस्य रागाद्यज्ञानभावाना लेशतोऽपि विद्यते सद्भाव, स श्रुत-केवलिसदृशोऽपि तथापि ज्ञानमयभावनामभावेन न जानात्या-त्मानं यस्त्वात्मान न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूप-पररूपसत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुना निश्चीयमानत्वात्।"

जिस जीवके रागादिअज्ञानभावका लेशमात्र भी सद्भाव है वह श्रुतकेवलीके सदृश भी ज्ञानी है तो भी ज्ञानमय भावके अभावसे आत्माको नहीं जानता है। और जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्मा (पर) को नहीं जानता है, क्योंकि अपने और परके स्वरूपका सत्व असत्व दोनों एक ही वस्तुके निश्चय में आ जाते हैं।

लोग कहते हैं कि नरकोंमें इतने बड़े दु ख हैं, वहांके समान दुःख और कहीं नहीं पर यह तो परोक्षकी बात हुई। हम तो कहते हैं कि प्रत्यक्ष ही राग दु खका कारण है। हम सब दुखी हो रहे हैं केवल एक रागसे ही। अभी सब पदार्थोंसे राग हटालो तो उसी क्षण हमें सुखका अनुभव हो जायगा। स्वर्गोमे हम सुखकी कल्पना करते हैं पर वर्तमानमे ही यदि रागकी मंदता हो तो सुख का अनुभव होजाय। तो भइया, अपनी ओर दृष्टिपात करो और विचार करो कि हममें कितना राग कम हुआ। दुनियाकी ओर मत देखो। अपनेको आकुलता होती है तो दुनियाको आकुलित देखते हैं। भगवानके कोई प्रकारकी आकुलता नहीं उन्होंने अपनेको बनाया इसलिए दुनियासे उन्हें कोई सरोकार नहीं। अपना स्वभाव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय है। मोक्षार्थीको केवल उन्हींका सेवन करना चाहिए। तदुक्तं—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्या मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥

मोहमे मनुष्य पागल हो जाता है। इसके नशेमें यह जीव क्या क्या उपहासास्पद कार्य नहीं करता? देखिए, जब आदि-नाथ भगवान् ने ८३ लाख पूर्व गृहस्थी में रहकर बिता दिए तब इन्द्रने विचार किया कि किसी प्रकार प्रभुको भोगोंसे विरक्त करना चाहिए जिससे अनेक भव्य प्राणियोंका कल्याण होय। इस कारण उसने एक नीलाञ्जना अप्सरा—जिसकी आयु बहुत ही अल्प

थी—सभामे नृत्य करनेके वास्ते खड़ी करदी। ज्योंही वह अप्सरा नृत्य करते करते विलय गई त्योंही इन्द्रने तुरन्त उसी वेश-भूषाकी दूसरी अप्सरा खड़ी करदी ताकि प्रभुके भोगोमें किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। परन्तु भगवान् तीन ज्ञान संयुक्त तुरन्त उस दृश्यको ताड़ गए और मनमे उसी अवसर पर वैराग्यका चिन्तवन करने लगे कि धिक्कार है इस दुःखमय संसारको, जिसमे रहकर मनुष्य भोगोंमे बेसुध होकर किस प्रकार अपनी स्वल्प आयु व्यर्थ व्यतीत कर देता है। इतना चिन्तवन करना था कि उसी समय लौकान्तिक देव (वैराग्यमे सने हुए जीव) आए और प्रभुके वैराग्यकी दृढ़ताके हेतु स्तुति करते हुए बोले—हे प्रभु! धन्य हैं आप आपने यह अच्छा विचार किया! आप जयवन्त होऊ, हे त्रिलोकीनाथ! आप चारित्रमोहके उपशमसे वैराग्य रूप भए हो। आप धन्य हो। इस प्रकार स्तवन कर वे लौकान्तिक देव तो अपने स्थानकको चले गए, परन्तु मोही इन्द्र आकर प्रभुको आभूषण पहिनाने लगा और पालकी सजाने लगा। अरे, जब विरक्त करवानेका ही उसका विचार था तो फिर आभूषणोंके पहिनानेका क्या आवश्यकता थी। विरक्त करवाता ही जारहा है और आभूषण पहिनाता ही जा रहा है। यह भी क्या न्याय है? पर मोही जीव बताओ, भइया क्या करे। मोहमे तो मोहकी सी बातें सूझती है। उसमे ऐसा ही होता है।

वास्तवमे यदि देखा जाय तो विदित हो जायगा कि जगतका चक्र केवल एक मोहके द्वारा घूम रहा है। यदि मोह क्षीण हो

जाय या आज ही जगतका अन्त आ जाय। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे रेहटकी चकी। एक आठ पहियेकी चकी होती है। उसको खीचने वाले दो बैल होते हैं और उनको चलाने वाला मनुष्य होता है। इसी तरह मनुष्य है मोह। वे दोनो बैल हैं, राग-द्वेष-उससे यह अष्ट-कर्मोका संसार है जिससे चतुर्गति रूप संसारमे यह प्राणी भटकता है।

एक मनुष्य था। वह किसी तेली का घड़ा सिर पर लादे हुए उसके साथ चला जारहा था। मार्गमे वह सोचता जाता था कि इन पैसोमे से एक मुर्गी मोल लूंगा। मुर्गीसे होंगे बच्चे, उन्हें बेचकर फिर एक बकरी खरीदूंगा उस बकरीसे जो बच्चे होंगे, उन्हें बेचकर एक गाय क्रय करूंगा। गायसे भी जो बच्चे होंगे उन्हे बेचकर फिर मै अपनी शादी कर लूंगा। तदनन्तर एक मकान खरीदूंगा और उसमे आराम से जीवन बिताऊंगा। कालान्तर मे मेरे भी बच्चे होंगे और वे परस्पर खूब खेलेंगे, कदाचित् झगड़ेंगे भी। झगड़ते झगड़ते जब वे मेरे पास आवेंगे तो मैं उनके यो तमाचा लगाऊँगा। हाथका उठाना हुआ कि मटकीका फट गिरना हुआ। उसी समय तेली कहने लगा 'क्योंजी! तुमने हमारी मटकी फाड़ डाली।' तब वह क्रोधमे बोल उठा-'तुम्हारी मटकी फूटी तो क्या हुआ, यहाँ तो सारी गृहस्थी नष्ट होगई।' यो मनुष्य शेख-चिल्ली सी नाना प्रकारकी कल्पनाएँ किया करता है। यह सब मोहके उदयकी बलवत्ता है। जहाँ मोह नहीं है वहां एक भी मनोरथ नहीं रह जाता। अतः 'मोहकी कथा अकथनी

और शक्ति अजेय है। पर पदार्थमें कर्तृत्वबुद्धि रखना अज्ञान है।

अब कहते हैं कि मनुष्यको पर पदार्थोमे कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखनी चाहिये। कर्तापनमे बडा दोष है। जब तक इस जीवके अहंकार (कर्तापनेकी) बुद्धि रहती है तब तक यह अज्ञानी है, अप्रतिबुद्ध है। इसकी प्रवृत्तिमे बध है तथा उसकी संतानसे अज्ञान है। मैं मैं करती हुई बेचारी बकरी वधावस्थाको प्राप्त होती है और मैना राजाओंके करों द्वारा पाली जाती है। तो अज्ञानतामें बडी भूल है। एक मनुष्य अज्ञानी गुरुके उपदेशसे छोटेसे भौंहरे में बैठके भैंसेका ध्यान करने लगा और अपनेको भैंसा मानके दीर्घ शरीरके चिंतवनमें आकाश पर्यंत सींगों वाला बन गया, तब इस चिंतामे पडा कि भौंहरे मे से मेरा इतना बड़ा शरीर किस प्रकार निकल सकेगा? ठीक यही दशा जीवकी अज्ञानके निमित्तसे होती है जो आपको वर्णादि स्वरूप मानके देवादिक पर्यायोंमें आपा मानता है। भैंसा मानने वाला यदि अपनेको भैंसा न माने तो आखिर मनुष्य बनाही है। इसी प्रकार देवादिक पर्यायोंको भी जीव यदि आपा न माने तो अमूर्तीक शुद्धात्मा आप बना ही है। तदुक्तम्—

"वर्णाद्या वा राग-मोहादयो वा भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंस."

इस पुरुष अर्थात् आत्माके वर्णादि रागादिक अथवा मोहादि सर्व ही भाव (आत्मासे) भिन्न है।

अत. आत्माका कर्तृत्व स्वभाव नहीं। आत्मामें कर्तापना

नहीं है सो बात नहीं है। कर्ता ना है, पर उनका स्वभाव नहीं है। अज्ञानसे कर्तापनेकी बुद्धि हो जाती है। जब ज्ञानी हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता है। वह जानता है अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है। सब अपने अपने स्वभावके कर्ता हैं। देखिए कुम्हार घड़ेको बनाता है। हम आपसे पूछते हैं-कुम्हारने घडेमें क्या कर दिया ? मिट्टीमें घड़े बननेकी योग्यता थी तभी तो कुम्हार निमित्त हुआ। यदि मिट्टीमें योग्यता न हो तो देख बालूमें से तो घड़ा बन जाय। इससे सिद्ध होता है कि मिट्टीमें ही घड़ा बननेकी योग्यता थी जभी घडेकी शकल बनी। तो हम लोग उपादानकी ओर दृष्टिपात न करें केवल निमित्तोंको देखते हैं सो यह अज्ञान है।

अब देखिए, स्त्रीने यों आटा गूंदा, उसकी लोई बनाई और लोईको लेकर चकले पर बेल दिया। विस्तार हुआ तो उस लोईमें उस स्त्री के हाथमें से क्या चला गया ? उसने केवल इधर उधर हाथ अवश्य कर दिए। तो इससे सिद्ध होता है कि रोटीका परिणमन रोटीमे हुआ और स्त्रीका परिणमन स्त्रीमे। स्त्रीने रोटीमें कुछ नहीं कर दिया पर व्यवहारसे हर कोई कहता है कि स्त्रीने रोटी बनाई। और भी जुलाहेने यों ताना बाला आतान वितान किया और कपड़ा बन गया। कपड़ेकी क्रिया कपड़ेमें हुई और जुलाहेकी क्रिया जुलाहेमें। पर व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि जुलाहेने कपड़ा बनाया। इसी तरह पुद्गल कर्मको परमार्थसे पुद्गल द्रव्य ही करता है और पुद्गल कर्मके

होनेके अनुकूल अपने रागादिपरिणामोंको जीव करता है उसके निमित्तनैमित्तिक भावको देखकर अज्ञानीके यह भ्रम होता है कि जीव ही पुद्गल कर्मको करता है। सो अनादि अज्ञानसे प्रसिद्ध व्यवहार है। जब तक जीव और पुद्गलका भेदज्ञान नहीं होता तब तक दोनोंकी प्रवृत्ति एक सरीखी दीखती है।

समयसारकी टीकामें लिखा है—पुद्गल कर्मको जीव जानता है तो भी उसका पुद्गलके साथ कर्ता कर्म भाव नहीं है, क्योंकि कर्म तीन प्रकारसे कहा जाता है। या तो उस परिणाम रूप परिणमे वह परिणाम या आप किसीको ग्रहण करे वह वस्तु। या किसीको आप उपजावे वह वस्तु। ऐसे तीनोंही तरहसे जीव अपनेसे जुदे पुद्गल द्रव्य रूप परमार्थसे नहीं परिणमता, क्योंकि आप चेतन है पुद्गल जड़ है, चेतन जड़ रूप नहीं परिणमता। पुद्गलको ग्रहण भी परमार्थसे नहीं करता, क्योंकि पुद्गल मूर्त्ती है आप अमूर्त्तीक है मूर्त्तीक द्वारा अमूर्त्तीकका ग्रहण योग्य नहीं है। तथा पुद्गलको परमार्थसे आप उपजाता भी नहीं, क्योंकि चेतन जड़को किस तरह उपजा सकता है? इस तरह पुद्गल जीवका कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं। जीवका स्वभाव ज्ञाता है वह आप ज्ञान रूप परिणमता उसको जानता है। ऐसे जानने वालेका परके साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

आत्माके परिणाम आत्मामे होते हैं और पुद्गलके पुद्गलमें। वह तीन कालमें उसका कर्ता नहीं होता। यदि

आत्मा पुद्गल कर्मको करे, भोगे तो वह आत्मा इन दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरें, सो ऐसा जिनदेवका मत नहीं। आत्मा दो क्रियाओंका कर्ता नहीं है। जो कर्ता कहते हैं वे मिथ्यादृष्टि है। और भी लिखा है—

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो द्रव्य अपने जिस द्रव्य स्वभावमें तथा जिस गुणमें वर्तता है वह अन्य द्रव्यमें तथा गुणमें संक्रमण रूप नहीं होता—पलटकर अन्यमें नहीं मिल जाता—वह अन्यमें नहीं मिलता हुआ भी उस अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है? कभी नहीं परिणमा सकता, क्योंकि वह वस्तु स्थितिकी मर्यादाको भेदनेमें असमर्थ है। आत्मा पुद्गलमय कर्ममें द्रव्यको तथा गुणको नहीं करता, उसमें इन दोनोंको नहीं करता हुआ भी उसका वह कर्ता कैसे हो सकता है?

कोई पूछे यह जीव फिर संसारी क्यों है? तो बतलाते हैं कि इस जीवके अनादिकालसे मोहयुक्त होनेसे उपयोगके तीन परिणाम हैं वे मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति है। जैसे स्फटिक शुद्ध था पर हरित, नील और पीतादिकी डाक लगानेसे वह तीन रूप परिणमन करता है। वैसे ही इन तीनोंमेंसे जिस भावको यह आत्मा स्वयं करता है उसीका वह कर्ता होता है। संसारमें भी देखलो जब यह जीव मदिरा पीकर मतवाला हो जाता है तो मूर्तीक द्रव्यसे भी अमूर्तीकमें विकार परिणाम हो

वृक्ष भी रात दिन शीत घाम मेघको सहनकर लेते हैं। सबसे बडी तत्वकी बात है। यदि वह हो गया तो परीषहमे कोई बडी बात नहीं। मुनियोंको घानीमें पेल दिया तो त्राहि न करी। अत आत्मज्ञान बडा दुर्लभ है। जिसको प्राप्त हो गया वही धन्य है।

'यतो न किञ्चित् ततो न किञ्चित्।
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्॥
विचार्य पश्यामि न जगन्न किञ्चित्।
स्वात्मावबोधादधिक न किञ्चित्॥"

न यहा कुछ है, न वहा कुछ है। जहा जहा जाता हूँ वहा कुछ नही है। मैं विचार कर देखता हूँ तो जगतमे आत्म-ज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है।

अब कहते है कि ज्ञानी पुरुषोको आत्माके सिवाय और कुछ ग्रहण न करना चाहिए। आत्मा आत्माहीके द्वारा ग्रहण करने योग्य है। इन्द्रिया अपने अपने विषयोको ग्रहण करती है। करने दो, पर उन विषयोंसे राग द्वेष मत करो। कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुनना होता है, रसनासे स्वाद लेना होता है, घ्राणसे सूघना होता है, स्पर्शनसे ठडे, गरमका अनुभव होता है और आखोसे देखना होता है ये इन्द्रियोके विषय है। इसके अलावा और कोई विषय होय तो बताओ। इन्द्रियोका काम ही विषयोंमे प्रवर्तना होता है। चक्षु इन्द्रिय है। इसका काम देखनेका है।

देख लिया चलो छुट्टी पाई। पर हां, उस देखनेमे किसी प्रकारका हर्ष विषाद मत करो। सूरदासने बाह्यमें अपनी आंखे फोड़ लीं तो क्या होता है ? अतरंगसे देखनेकी लालसा नहीं मिटी तो व्यर्थ है। इसी प्रकार मनमे भी इष्टानिष्ट कल्पना करो तो आकुलता है। पण्डित दौलतरामजीने कहा है—

"आत्मके अहित विषय कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाय॥"

वास्तवमें कषायही आत्माका अहित करने वाली है। जैसे बने वैसे कषायोको कृश करनेका प्रयत्न करता रहे। रागादिक कषाय ही ससारको जन्म देती हैं। सनत्कुमार चक्री जब मुनि होगए, उस समय उनको किसी रोगने घेर लिया। स्वर्गोमे इन्द्रने अपनी सभामे चक्रवर्तीकी प्रशसाकी और एक देव उनके परीक्षार्थ वहां आया। उसने वैद्यका रूप धारण कर लिया और मुनिसे बोला 'हम आपका रोग दूर कर सकते हैं।' मुनिने कहा 'इस शरीरके रोगको दूर करनेमे क्या है ? हां, यदि रागादिक रोग दूर कर सकते हो तो उसका इलाज करो।' वह देव तुरन्त चरणोंमें पड गया और क्षमा मागकर चला गया। निष्कर्ष यह निकला कि आत्माके रागादिक विकार दूर करनेको कोई समर्थ नहीं। मनुष्य यदि स्वय चाहे तो वह मेट सकता है।

संसार जालमें फंसाने वाला कौन है ? जरा अन्तर्दृष्टिसे परामर्श करो। जाल ही चिड़ियोंको फंसाता है ऐसी भ्रान्ति

इन कार्मोंको कौन करता है ? सो कहते हैं-इस आत्माके योग (मन वचन कायके निमितसे प्रदेशोका चलना) और उपयोग (ज्ञानका कषायोंसे उपयुक्त होना) ये दोनों अनित्य हैं सब अवस्थाओंमे व्यापक नहीं है । वे उन घटादिकके तथा क्रोधादि पर द्रव्यस्वरूप कार्मोंके निमित्तमात्र कर कर्ता कहे जाते हैं। योग तो आत्माके प्रदेशोंका चलन रूप व्यापार है और उपयोग आत्माके चैतन्यका रागादि विकार रूप परिणाम है । इन दोनों का कदाचित्काल अज्ञानसे उनको करनेसे इनके आत्माको भी कर्ता कहा जाता है, परन्तु पर द्रव्य स्वरूप कर्मका तो कर्ता कभी भी नहीं है ऐसा निश्चय है । गीता मे लिखा है —

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।'

अर्थात् मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है । उसके फलमें नहीं । कर्म करो परन्तु उसके फलकी आशा मत करो । तो जैनधर्म कहता है कि फलकी आशा तब करे जब कोई कर्म करे । कोई कर्म ही मत करो । किसी पदार्थमें कर्तृत्व बुद्धि ही तुम मत रखो। फलकी आशा तो दूर रही तुम किसी द्रव्यके कर्ता ही नहीं हो यह जैनधर्मकी अपनी एक निजी विशेषता है ।

और तो और—भगवान भी तत्वोंके कर्ता (बनानेवाले) नहीं हैं । जैसे सूर्य पदर्थोंको बनानेवाला नही है । प्रकाश वाला है वैसे ही भगवान भी तत्वोंको प्रकाश करने वाले हैं, बनाने वाले नही है ।

अत जो भी कार्य हो उसमे कर्तृत्व बुद्धिको त्यागो और नित्योद्योत ज्ञानानन्दमयी एक अपनी आत्माको पहचानो, इसको जाने बिना हम अनादिकालसे पंच परिवर्तनके पात्र बने। और जब तक नही जानेंगे तब तक भ्रमण नही मिटेगा। अब सुथल सुकुल पाकरके प्रमाद नहीं करना चाहिए। अपनी चीज अपने ही पास है। वह अन्यत्र कही नहीं है। एक आदमीने ने एक से ऐसा कहा अरे तेरा कान कौआ ले गया। वह बेतहाश होकर कौएके पीछे दौड़ा। दूसरेने दौड़नेका कारण पूछा। उसने कहा एक अच्छे आदमीने कहा है कि कौआ कान लेगया। पर मूर्खने अपना हाथ उठाकर अपने कानको नहीं टटोला। कान कहा चला गया था। अपने पास ही तो है। वैसे ही हम भी मोहमे फँसकर ससार-दौड़की होड लगा रहे है पर मुक्ति यो कदापि न मिलेगी, जब तक हम अपनी ओर दृष्टिपात न करेंगे। ससारमे जन्म लेना तभी सफल है जब हम उस आत्माको जानेगे और जाननेका प्रयत्न करेगे।

१५ या २० मिनट अवश्य आत्म-चिंतवनमें लगाओ। उतना ही अनुभव करो जितना तुम्हारी शक्ति हो। गृहस्थीमे रहकर मुनिके सुखकी कल्पना मत करो। यदि तुम्हारे पास ५०) रुपए हैं तो पचासका ही सुख लो, करोडपतिके सुखकी कल्पना मत करो। लोग कहते है कि मुनि कैसे परीषह सहन करते होंगे? अरे, परीषह सहनेमे क्या धरा है? परीषह तो

जाता है। इस तरह यह आत्मा अज्ञानी हुआ किसीसे राग किसीसे द्वेष करता हुआ उन भावोंका आप कर्ता होता है। उसको निमित्त मात्र होने पर पुद्गल द्रव्य आप अपने भावकर कर्मरूप होके परिणमता है। और देखो, वेश्याने यहा नैन मटकाए, वहा तुम प्रसन्न होगए और अटीमेंसे रूपये निकाल कर दे दिए। अब क्या वेश्याने तुमसे कहा था? और भी-रणमें बैंडका बाजा यहा बजता है और योद्धाओंमे वहा मारकाट शुरू होजाती है। यह बात प्रत्यक्ष है। तब यदि आत्माके भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपने रूप परिणमन कर जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

जीव और पुद्गल परिणामोंका परस्पर निमित्तमात्रपना है। तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नही है तथा मृत्तिका जैसे कपडेका कर्ता नहीं है वैसे अपने भाव कर परके भावोंके करनेके असमर्थपनेसे पुद्गलके भावोंकी कर्ता भी कभी नही है।

ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। ज्ञान ज्ञेयको जानता है इसलिए ज्ञान नही है। अग्नि लकडीको जलाती है इसलिए अग्नि नही है। काटोंमे तीक्ष्णपना कौन लाया? नीममें कडुवापन कहासे आया? अरे, वह तो स्वभावसे ही है। इसी तरह ज्ञान भी सहज स्वपर-प्रकाशक है। वह अपनेको जानता है तथा परको भी जानता है पर अनादिकालसे यह जीव ज्ञेय-मिश्रित ज्ञानका अनुभवन कर रहा है। जैसे हाथी मिष्ट पदार्थो तथा तृणोंको

एक साथ खाता है वैसे ही यह जीव मिश्रित पदार्थोंके स्वादमें आनन्द मानता है। कभी एक निखालिश ज्ञानका स्वाद नहीं लेता।

भावार्थ—कर्मके निमित्तसे जीव विभाव रूप परिणमते हैं, जो चेतनके विकार हैं वे जीव ही हैं और पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्म रूप परिणमते हैं वे पुद्गलके परमाणू हैं तथा उनका विपाक उदय रूप हो स्वाद रूप होते हैं वे मिथ्यात्वादि अजीव हैं। ऐसे मिथ्यात्वादि जीव अजीवके भेदसे दो प्रकार हैं। यहां पर ऐसा है जो मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृतिया हैं वे पुद्गल द्रव्यके परमाणू हैं उनका उदय हो तब उपयोग स्वरूप जीवके उपयोगकी स्वच्छताके कारण जिसके उदयका स्वाद आए तब उसीके आकार उपयोग हो जाता है तब अज्ञानसे उसका भेद ज्ञान नहीं होता, उस स्वादको ही अपना भाव जानता है। सो इसका भेद ज्ञान ऐसा है कि जीव भावको—जीव जाने अजीव भावको अजीव जाने तभी मिथ्यात्वका अभाव होके सम्यग्ज्ञान होता है।

यदि कोई कहे कि व्याप्य व्यापक भावसे कर्ताकर्मका सम्बन्ध नहीं होता तो निमित्त नैमितक भाव से तो होता है। सो कहते हैं जो कुछ घटादिक तथा क्रोधादिक पर द्रव्य स्वरूप कर्म प्रगट देखे जाते हैं उनको यह आत्मा व्याप्य व्यापक भाव कर नहीं करता। जो ऐसे करे तो उनसे तन्मयपने का प्रसंग आयगा। तथा निमित्त नैमित्तक भाव कर भी नहीं करता? क्योंकि ऐसा करे तो सदा सब अवस्थाओंमें कर्तापने का प्रसंग आजाय।

छोडो बहेलिया फसाता है यह भ्रम भी त्यागो, जिह्वेन्द्रिय फसाती है यह अज्ञानता भी त्यागो, केवल चुगनेकी अभिलाषा ही फंसानेमे बीजभूत है। इसके न होने पर वे सब व्यर्थ हैं। इसी तरह इस दु खमय ससारके जालमे फंसानेका कारण न तो यह बाह्य सामग्री है, न मन, वचन और कायका व्यापार ही है, न द्रव्य कर्मसमूह है, केवल स्वकीय आत्मासे उत्पन्न रागादि परिणति ही सेनापतिका कार्य कर रही है। अत इसीका निपात (विनाश) करो।

जिस रोगको हमने पर्याय भर जाना और जिसके लिए दुनिया के वैद्य और हकीमोंको नब्ज दिखाई, उनके लिखे बने या पिसे पदार्थोंका सेवन किया और कर रहे हैं, वह तो वास्तवमे रोग नही। जो रोग है उसको न जाना और न जाननेकी चेष्टा ही की और न उस रोगके वैद्य द्वारा निर्दिष्ट रामवाण औषधिका प्रयोग किया। उस रोगके मिट जानेसे यह रोग सहज ही मिट जाता है। वह रोग है राग और उसके सद्वैद्य है वीतराग जिन। उनकी बताई औषधि है १ समता २ पर पदार्थोंसे ममत्वका त्याग और ३ तत्वज्ञान। यदि इस त्रिफलाको शान्ति रसके साथ सेवन करे और कषाय जैसी कटु तथा मोह जैसी खट्टी वस्तुओंका परहेज किया जाय तो इससे बढकर रामवाण औषधि और कोई हो नही सकती।

आत्म-भावना

सहज शुद्धज्ञान आनन्दस्वरूप निर्विकल्प और उदासीन ऐसा जो अपना स्वभाव है उसका अनुभव और ज्ञान और प्राप्ति किस प्रकार होती है अब उसकी भावना कहते हैं—

निज-निरंजन शुद्धात्मसम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चय-रत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानु-भूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवदेन ज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्य' प्राप्यो भरितावस्थोऽहम् ।" अर्थात् मैं निज निरंजन शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्वि-कल्प समाधिसे उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप सुखकी अनुभूति-मात्र जिसका लक्षण स्वरूप है ऐसे स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा स्वसंवेद्य, गम्य, प्राप्य, भरितावस्थ हूँ। ऐसी आत्माकी भावना करनी चाहिये। इस प्रकार पहिले स्वभावसे भरा हुआ परिपूर्ण हूँ ऐसा 'अस्ति' से कहा अब मेरा स्वभाव सर्व विभावोंसे रहित शून्य है ऐसा नास्तिसे कथन करते हैं।

"रागद्वेष मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पञ्चेन्द्रियाविषय व्यापार-मनोवचनकायव्यापार-भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्म ख्याति-पूजा-लाभ-दृष्टश्रु तानुभूतभोगकांक्षारूप निदान-माया-मिथ्या-शल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणाम रहित शून्योऽहम् ।' अर्थात् मैं सर्व विभावपरिणामोंसे रहित शून्य हूँ ऐसी अपनी आत्माकी भावना करनी चाहिए।

'जगतत्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन तथा सर्वेऽपि जीवा इति निरंतरं भावना कर्तव्येति।' अर्थात् तीन लोक और तीन कालमे शुद्धनिश्चयनयसे ऐसा (स्वभावसे पूर्ण और विभावसे रहित) हूं तथा समस्त जीव ऐसे ही हैं। ऐसी मन, वचन, कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे निरन्तर भावना करना योग्य है।

आगे सांख्यमतका निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि उनका कहना कहा तक उचित है? वे कहते हैं कि कर्म ही सब कुछ करता है-कर्मही ज्ञानको ढकता है, क्योंकि ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञान प्रकट नहीं होता, कर्मही ज्ञानको बढ़ाता है; क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञानका विकास होता है। कर्मही मिथ्यात्वोदयसे पदार्थको विपरीत दिखलाता है जैसे कामला रोग वालेको शंख पीला दिखता है इत्यादि कर्म सब कुछ करता है, आत्मा अकर्ता है। ऐसे सिद्धान्त माननेवालेको कहते हैं कि आत्मा बिलकुल अकर्ता नहीं है। यदि अकर्ता होजाय तो राग द्वेष मोह ये किसके भाव होंय? यदि पुद्गलके कहो तो वह तो जड़ स्वभाववाला है। जड़मे रागद्वेष क्रिया होती नहीं। अतः इस जीवके अज्ञानसे मिथ्यात्वादि भाव परिणाम है वे चेतन ही है जड़ नहीं है। इसलिए कथंचित् आत्मा कर्ता है और कथंचित् अकर्ता है। अज्ञानसे जब यह जीव रागद्वेषादिक भाव करता है तब वह कर्ता होता है और जब ज्ञानी होकर भेदज्ञानको

प्राप्त हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता होता है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतनही होना परमार्थ है वहां अभेददृष्टिमें तो शुद्ध चेतनमात्र जीव है परन्तु कर्मके निमित्तसे जब परिणमता है तब उन परिणामों कर युक्त होता है। उस समय परिणाम परिणामीकी भेददृष्टिमें अपने अज्ञानभाव परिणामोंका कर्ता जीवही है और अभेददृष्टिमे तो कर्ता कर्म भावही नहीं है शुद्ध चेतनमात्र जीव वस्तु है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतनही है अन्य नहीं। श्री समन्तभद्राचार्य देवागममे लिखते हैं कि —

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। कि यदि पदार्थको सामान्यापेक्षा देखा जाय तो वह एक रूपही दिखाई देगा और विशेषकी अपेक्षासे उसमें नानापना दिखलाई देगा। जैसे एक मनुष्य है। वह क्रमसे पहले बालक था, बालकसे युवा हुआ और युवासे वृद्ध हुआ। यदि सामान्यसे विचारो तो एक चेतनमात्र जीवही है परन्तु विशेष दृष्टिसे देखो तो वह बालक है, फिर युवा है और वही वृद्ध भी है ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा तो आत्मा अकर्ता है परन्तु जब तक भेद-ज्ञान न हो तब तक मिथ्यात्वादि भाव कर्मोंका कर्ताही मानना उचित है। इस तरह एक ही आत्मामे कर्ता

अकर्ता दोनों भाव विवक्षाके वशसे सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद मत है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है कल्पना नहीं है।

'द्रव्यदृष्टिसे विचारो तो सब आत्माएं शुद्ध मिलेंगी पर नय विवक्षासे देखो, तो नाना प्रकारके भेद दिखेंगे। ये नय पर्यायदृष्टि कर देखे जावें तो भूतार्थ ही है। अत. उनको उन्हीं रूपसे जानना सत्यार्थ भी है। सामान्यरूपसे जीव एक है परन्तु पर्यायदृष्टिसे उसमे नानापना असत्य नहीं, तात्त्विक ही है तथा जीवके गुणोंमे जो विकार होता है उसके जानेसे गुणकी शुद्ध अवस्था रह जाती है, अभाव नहीं होता है। जैसे जलमे पकका सम्बन्ध होनेसे मलिनता आजाती है पंकके अभावमे जलमें जैसे स्वच्छता आजाता है एवं आत्मामे मोहादि कर्मके विपाकसे विकृतावस्था होजाती है। उस विकृतावस्थामे उनमे नानापना दीखता है, उसका यदि उस अवस्थामे विचार किया जाय तब नानापना सत्यार्थ है, किन्तु वह औपाधिक है अत. मिथ्या है न कि स्वरूप उसका मिथ्या है। यदि स्वरूप मिथ्या होता तब संसार नाशकी आवश्यकता न थी। अत नय विवक्षासे पदार्थोंको जानना ही ससारसे मुक्तिका कारण है।

अब कहते हैं इस मनुष्यको अनादिकालसे जीव और पुद्गलका एकत्व अभ्यास होरहा है। अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धिमान रहा है। कभी इससे खालिस ज्ञानका स्वाद नहीं लिया। ज्ञेय मिश्रित ज्ञानका ही अनुभवन किया। केवल

ककड़ीके खानेमें स्वाद नहीं आता पर नमक मिर्चके साथ खानेमें आनन्द मानता है, क्योंकि इसको वही मिश्रित पदार्थोंके खानेकी जो आदत पड़ी हुई है अब खानेमे केवल ज्ञानका ही परिणमन होता है पर उस ज्ञानको छोड़ हम परपदार्थोंमें सुख मान लेते हैं। यही अज्ञानकी भूल पड़ी है। आचार्योंने इसीलिए रस-परित्याग तप बतलाया है कि इस जीवको खालिस एक पदार्थके स्वादका अभ्यास पडे। ऐसी ज्ञानमयी आत्माको छोड़ यह जीव अनन्त संसारका पात्र बन रहा है। पुद्‌गलमें जीवत्वका आरोप कर रहा है। अन्धकारमें रज्जुको सर्प मान रहा है। गिर रहा, पड रहा और नाना प्रकारके दुख भी उठा रहा, पर फिर भी अपनी अज्ञानताको नही मेटता। शरीरसे भिन्न अपनी आत्माको नहीं पहचानता। यदि एक भी बार उस ज्ञानमयी आत्माका अनुभव होजाय तो फिर कल्याण होनेमे कोई विलम्ब न लगे। केवल अपनी भूलको सुधारना है।

एक स्त्री थी। जब उसका पति परदेश जाने लगा तो उसने उसको एक बटिया दी इस विचारसे कि कहीं वह खोटे आचरणोंमे न पड़ जावे और कहा कि इसको पहिले अपने सामने रखकर कोई भी पाप कार्य न करनेकी प्रतिज्ञा करना तत्पश्चात इसकी पूजाकर और फिर भोजन करना। वह आदमी उस बटियाको लेकर चल दिया। मार्गमे एक स्थान पर विश्राम किया और जब भोजनका समय हुआ तो उसने उस बटियाको

निकाल कर अपने सामने रक्खा और वैसा ही जैसा कि उसकी स्त्रीने कहा था पाप न करनेका वचन दिया। जब वह पूजा पूर्णकर भोग लगा रहा था, उसी समय एक चूहा आया और उस भोगको खाने लगा। उसने सोचा-अरे, इस बटियासे तो चूहा ही बडा है, झट उस चूहेको पकड लिया और एक पिंजरेमे बन्द कर उसकी पूजा करना शुरू कर दिया। एक दिन अकस्मात् बिल्ली आई। चूहा उस बिल्लीको देखकर दबक गया। उसने सोचा अरे, इस चूहेसे तो बिल्ली ही बडी है, उसको पकड़कर बांध लिया और उसकी पूजा करने लगा। एक दिन आया कुत्ता-कुत्तेको देखकर वह बिल्ली दबक गई। उसने फिर सोचा अरे, इस बिल्लीसे तो कुत्ता बड़ा है। उसने कुत्तेको पकड़कर बांध लिया और उसकी पूजा शुरू कर दी। अब वह परदेशसे कुत्तेको साथ लेकर अपने घर लौट आया। एक दिन उसकी स्त्री रोटी बना रही थी, वह कुत्ता लपककर चौकेमे घुस गया। स्त्रीने उसके मारा एक डंडा और वह भों भों करके भाग गया। उसने सोचा-अरे, कुत्ते से तो यह स्त्री ही बडी है। अब वह उस स्त्रीको पूजने लगा—उसकी धोती धोना, उसका साज शृंगारादिक करना। एक दिन उसकी स्त्री खाना बनाते समय शाकमे नमक डालना भूल गई। जब वह आदमी खानेको बैठा तो उसने कहा 'आज शाकमे नमक क्यों नहीं डाला?' वह बोली 'मैं भूल गई।' उसने कहा -क्यों भूल गई और एक थप्पड़ मारा। वह

स्त्री रोने लगी। उसने सोचा अरे, मैं ही तो बड़ा हूँ, यह स्त्री तो मुझसे भी दबक गई। आखिर उसे अपनी भूलका ज्ञान होगया। तो वास्तवमे जिसने अपनेको पहिचान लिया, उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ क्या चीज है? हम दूसरोंको बड़ा बनाते है कि अमुक बड़े हैं, तमुक बड़े हैं, पर मूर्ख अपनी ओर दृष्टिपात नही करता। अरे, तुझसे तो बड़ा कोई नहीं है। बड़ा बननेके लिये बड़े कार्य कर। वास्तवमे अपनेको लघु मानना तो महती अज्ञानता है कि हम क्या हैं? किस खेतकी मूली हैं? यह तो महान् आत्माको पतित बनाना है। उसके साथ अन्याय करना है। अरे, तुझमें तो अनतज्ञानकी शक्ति तिरोभूत है। अपनेको मान तो सही कि मुझमे परमात्मा होनेकी शक्ति विद्यमान है। आत्मा निर्मल होनेसे मोक्षमार्गकी साधक है और आत्माही मलिन होनेसे संसारकी साधक है। अतः जहाँ तक बने आत्माकी मलिनताको दूर करनेका प्रयास करना हमारा कर्तव्य है।

देखिये, 'पङ्कापाए जलस्यानिर्मलतावत्।' जलके ऊपर काई आ जानेसे जल मलिन दिखता था और जब काई दूर होगई तो जल स्वच्छका स्वच्छ होगया। उसकी स्वच्छता कहीं और जगह नही थी केवल काई लग जानेसे उसमे मलिनता थी सो जब वह दूर हुई तो जल स्वतः स्वच्छ होगया। अब देखो, यह कपड़ा है। इस पर यह चिकनाई लगी हुई है इस चिकनाईकी

वजहसे उसमें धूलके कण लग गए जिससे वह मलिन होगया। पर जब थोड़ा साबुन लगाकर उसे साफ कर दिया गया तो वह वस्त्र स्वच्छ होगया। तो उस वस्त्रमें स्वच्छता थी तभी तो वह उजला हुआ, नहीं तो कैसे होता ? हां, उस वस्त्रमे केवल बाह्य मलिनता अवश्य आगई थी, उसके धुल जानेसे वह जैसा था वैसा होगया। इसी तरह आत्मा भी रागद्वेषादिकके संयोगसे विकारको प्राप्त हो रही थी उस विकारताके मिट जानेसे वह जैसी थी वैसी होगई। अब देखो उस वस्त्रमे जो चिकनाई लग रही है, यदि वह नहीं मिटे और ऊपरसे चाहे जितना जलसे धो डालो तो क्या होता है ? क्योंकि उस चिकनाईकी वजहसे वह फिर मलिनका मलिन हो जायगा। इसी तरह आत्माके जो रागद्वेषादिक है यदि वह नहीं मिटे और ऊपर शरीरको खूब सुखाने लगे, तपश्चरण करने लगे तो क्या होता है ? तुषमासभिन्न ज्ञान हुआ नहीं, और उस तुषको ही पीटने लग गए तो बताओ क्या होता है ? अन्तरंगकी रागद्वेष परिणति नहीं मिटी तो पुनः वही देह धारण है। पर्यायको मिटानेका प्रयत्न नहीं है पर जिन कारणोंसे पर्याय उत्पन्न हुई उन्हें मिटानेकी आवश्यकता है। उसका ज्ञान अनिवार्य है। जैसे मिश्री है। यदि उसे नहीं चखो तो कैसे उसका स्वाद आए कि यह मीठी होती है। उसी तरह रागका भी यदि अनुभवन न होय तो क्या उसे मिटानेका प्रयत्न होय ? "प्रीतिरूपपरिणामो रागः"। प्रीतिरूप परिणामका होना

राग है। और अप्रीति रूप परिणामका होना यह द्वेष है। संसारका मूल कारण यही राग द्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त करली उसके लिए शेष क्या रह गया ?

सच्चा पुरुषार्थ

अब कहते हैं कि आत्माको पहिचानना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। घर छोड़कर तीर्थस्थानमें रहनेमें पुरुषार्थ नहीं, पण्डित महानुभावोंकी तरह ज्ञानार्जन कर जनताको उपदेश कर सुमार्गमें लगाना पुरुषार्थ नहीं, दिगम्बर भेष भी पुरुषार्थ नहीं सच्चा पुरुषार्थ तो यह है कि उदयके अनुसार जो रागादिक होवें हमारे ज्ञानमें भी आवें, उनकी प्रवृत्ति भी हममें हो, किन्तु हम उन्हें कर्मज भाव समझकर इष्टानिष्ट कल्पनासे अपनी आत्माकी रक्षा कर सकें। लोग कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं मिलती। अरे, तुम्हें शान्ति मिले तो कैसे मिले ? एक क्षण रागादिकसे निवृत्त होकर शांति मुद्रासे बैठकर तो देखो कैसा शांतिका समुद्र उमड़ता है ? न कुछ करना ही आत्माका काम है। मन-वचन-कायके योग भी आत्माके नहीं हैं। वह तो एक निर्विकल्पभाव है।

लोग कहते हैं कि आत्माकी महिमा अनन्तशक्तिमें है। अरे, उसकी महिमा अनन्तशक्तिमें नहीं। मैं तो कहता हूं कि पुद्गलमें भी अनन्तशक्ति है। देखलो, केवल ज्ञानावरणकर्मने आत्माके केवलज्ञानको रोक लिया है। पर आत्माकी भी वह शक्ति है जो सम्यग्दर्शन पैदा करके अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाश कर परमात्मा बन जाय। तो उसकी महिमा अनन्त शक्तिमें नहीं।

उसका काम केवल देखना और जानना मात्र है। और देखना जानना भी क्या है ? वह चीज जैसी है वैसी ही है।

लोग अपनेको कर्मों पर छोड़ देते हैं। वे कहते हैं क्या करें हमारे कर्ममे ही ऐसा लिखा था—कितनी अज्ञानता और कायरता है। जैसा कि अन्यमती कहते हैं, क्या करे भगवानको ऐसा ही मंजूर था जैसा ही ये लोग भी कर्मोंके मत्थे सारा दोष मढ़ते हैं। पुरूषार्थ पर किंचित् भी ध्यान नहीं देते। जिस आगममे पुरूषार्थ का इतना विशद वर्णन हो उसको ये लोग भूल जाते हैं। अरे, कर्मोंको दोष देनेसे क्या होगा ? जो जन्मार्जित कर्म है उसका तो फल उदयमें आएगा ही। भगवानको ही देखो। मोह नष्ट हो चुका, अर्हंत पदमे विराजमान है। पर फिर भी दंड कपाट करो। दडाकार हो कपाट रूप हो प्रतर करो और लोकपूरण करो। यह सब क्या है ? वही जन्मार्जित कर्म ही तो उदयमे आकर खिर रहे हैं तो कर्मोंके सहारे रहना ठीक नहीं है। पुरूषार्थ भी कोई चीज है ! जिस पुरूषार्थसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होय उस पुरुषार्थकी ओर ध्यान न दो तो यह अज्ञानता ही है। समयसारमे लिखा है —

शुद्धद्रव्यनिरुपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो।
नैक द्रव्यगत चकास्ति किमपि द्रव्यांतर जातुचित् ॥
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदय शुद्धस्वभावोदयः।
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२२॥

अर्थ—अचार्य कहते हैं कि जिसने शुद्धद्रव्यके निरुपणमें बुद्धि लगाई है और जो तत्त्वको अनुभवता है ऐसे पुरुषके एक द्रव्यमें प्राप्त हुआ अन्य द्रव्य कुछ भी कदाचित् नहीं प्रतिभासता तथा ज्ञान अन्य ज्ञेय पदार्थोको जानता है सो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है। ये लोक हैं वे अन्य द्रव्यके ग्रहणमें आकुल बुद्धिवाले हुए शुद्धस्वरुपसे क्यों चिगते हैं? तो उस स्वरुपकी ओर ध्यान दो। परन्तु मोह? तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो संसार मात्रको अपना बनाना चाहता है। नारकी की तरह मिलनेको तो कण भी नही, परन्तु इच्छा ससार भरके अनाज खानेकी होती है।

अब देखिए, इस शरीर पर तुम यह कपड़ा पहिनते हो तो क्या यह कपड़ा तुम्हारे अन्दर प्रवेश करता है? पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। और चोट्टापन क्या है? दूसरी चीज को अपनी मान लेना यही तो चोट्टापन है इस दुपट्टेको हमने अपना मान लिया जभी तो चोर हो गया' नहीं तो समझते पराया हैं। पर मोह मदिरामे ऐसा ही होता है। तुमने उसकी सी बात कही और हमने उसकी सी। इस तरह उस शुद्धस्वरूपकी ओर ध्यान ही नही देते। देखिए यह घडी हमने ले ली। इससे हम अपना काम भी निकाल रहे हैं। पर अन्तरंगसे यही समझते हैं कि अरे, यह तो पराई है। उसी तरह रागादिकोसे यदि जरूरत

पडे तो काम भी निकाल लो पर अन्तरंगसे यही जानों कि अरे यह तो पराई है। और जब तक भइया पर को पर और अपने को अपना नहीं समझा तब तक कल्याण भी कैसे होयगा ? यदि रागादिकोंको अपनाते रहोगे तो कैसे बंधनसे छूटना होगा बतलाइए। अत रागादिकोंको हटानेकी आवश्यकता है। कैसी भी आपत्ति आजाय, समझो यह भी कर्मों का कर्जा है। समभाव से उसे सहन करलो। हा, उसमे हर्ष-विषाद मत करो। यह तुम्हारे हाथ की बात है। और भइया रागादिक नहीं हटे तो मनुष्यजन्म पानेका फल ही क्या हुआ ? ससार और कोई नहीं, रागादिक परिणति ही समार है और इसका अभाव ही समयसार है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य युक्तयनुशासन [1] के अन्तमे लिखते हैं- कि 'हे प्रभो ! मैं आपकी स्तुति रागसे नहीं करता हू, क्योंकि गुणीके गुणोमे अनुरागका होना यही भक्ति कहलाती है। तो आपका गुण तो वीतराग है। इसलिए मैं उस वीतरागताका उपासक हूँ न कि रागका। और भी आगे इन्होने लिखा कि मैं अन्य मतोका

१. न रागान्न स्तोत्र भवति भवपाशच्छिदि मुनौ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसा।
हितान्वेषोपायस्तवगुणकथासङ्गगदित ॥ ६४ ॥

राग है। और अप्रीति रूप परिणामका होना यह द्वेष है। संसारका मूल कारण यही राग द्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त करली उसके लिए शेष क्या रह गया ?

सच्चा पुरुषार्थ

अब कहते हैं कि आत्माको पहिचानना ही सबसे बडा पुरुषार्थ है। वह छोडकर तीर्थस्थानमे रहनेमें पुरुषार्थ नहीं, पण्डित महानुभावोंका तरह ज्ञानार्जन कर जनताको उपदेश कर सुमार्गमे लगाना पुरुषार्थ नहीं, दिगम्बर वेष भी पुरुषार्थ नहीं सच्चा पुरुषार्थ तो वह है कि उदयके अनुसार जो रागादिक होवे हमारे ज्ञानमें भी आवे, उनकी प्रवृत्ति भी हममे हो, किन्तु हम उन्हें कर्मज भाव समझकर इष्टानिष्ट कल्पनासे अपनी आत्माकी रक्षा कर सके। लोग कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं मिलती। अरे, तुम्हे शान्ति मिले तो कैसे मिले ? एक क्षण रागादिकसे निवृत्त होकर शांति मुद्रासे बैठकर तो देखो कैसा शांतिका समुद्र उमडता है ? न कुछ करना ही आत्माका काम है। मन-वचन-कायके योग भी आत्माके नही है। वह तो एक निर्विकल्पभाव है।

लोग कहते है कि आत्माकी महिमा अनन्तशक्तिमे है। अरे, उसकी महिमा अनन्तशक्तिमे नही। मै तो कहता हूं कि पुद्गलमे भी अनन्तशक्ति है। देखलो, केवल ज्ञानावरणकर्मने आत्माके केवलज्ञानको रोक लिया है। पर आत्माकी भी वह शक्ति है जो सम्यग्दर्शन पैदा करके अन्तर्मुहूर्तमे कर्मोका नाश कर परमात्मा बन जाय। तो उसकी महिमा अनन्त शक्तिमे नहीं।

उसका काम केवल देखना और जानना मात्र है। और देखना जानना भी क्या है ? वह चीज जैसी है वैसी ही है।

लोग अपनेको कर्मों पर छोड़ देते हैं। वे कहते हैं क्या करें हमारे कर्ममें ही ऐसा लिखा था—कितनी अज्ञानता और कायरता है। जैसा कि अन्यमती कहते हैं, क्या करें भगवानको ऐसा ही मजूर था जैसा ही ये लोग भी कर्मोंके मत्थे सारा दोष मढ़ते हैं। पुरुषार्थ पर किंचित् भी ध्यान नहीं देते। जिस आगममे पुरुषार्थ का इतना विशद वर्णन हो उसको ये लोग भूल जाते हैं। अरे, कर्मोंको दोष देनेसे क्या होगा ? जो जन्मार्जित कर्म है उसका तो फल उदयमे आएगा ही। भगवानको ही देखो। मोह नष्ट हो चुका, अर्हंत पदमे विराजमान हैं। पर फिर भी दंड कपाट करो। दडाकार हो कपाट रूप हो प्रतर करो और लोकपूरण करो। यह सब क्या है ? वही जन्मार्जित कर्म ही तो उदयमे आकर खिर रहे हैं तो कर्मोंके सहारे रहना ठीक नही हैं। पुरुषार्थ भी कोई चीज है ! जिस पुरुषार्थसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होय उस पुरुषार्थकी ओर ध्यान न दो तो यह अज्ञानता ही है। समयसारमे लिखा है —

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो ।
नैक द्रव्यगत चकास्ति किमपि द्रव्यान्तर जातुचित् ॥
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदय शुद्धस्वभावोदयः ।
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसने शुद्धद्रव्यके निरुपणमें बुद्धि लगाई है और जो तत्त्वको अनुभवता है ऐसे पुरुषके एक द्रव्यमें प्राप्त हुआ अन्य द्रव्य कुछ भी कदाचित् नहीं प्रतिभासता तथा ज्ञान अन्य ज्ञेय पदार्थोंको जानता है सो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है। ये लोक हैं वे अन्य द्रव्यके ग्रहणमें आकुल बुद्धिवाले हुए शुद्धस्वरुपसे क्यों चिगते हैं ? तो उस स्वरुपकी ओर ध्यान दो। परन्तु मोह ? तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो संसार मात्रको अपना बनाना चाहता है। नारकी की तरह मिलनेको तो कण भी नही, परन्तु इच्छा संसार भरके अनाज खानेकी होती है।

अब देखिए, इस शरीर पर तुम यह कपडा पहिनते हो तो क्या यह कपड़ा तुम्हारे अन्दर प्रवेश करता है ? पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। और चोट्टापन क्या है ? दूसरी चीज को अपनी मान लेना यही तो चोट्टापन है इस दुपट्टेको हमने अपना मान लिया जभी तो चोर हो गया' नहीं तो समझते पराया है। पर मोह मदिरामे ऐसा ही होता है। तुमने उसकी सी बात कही और उसने उसकी सी। इस तरह उस शुद्धस्वरूपकी ओर ध्यान ही नही देते। देखिए यह घडी हमने ले ली। इससे हम अपना काम भी निकाल रहे हैं। पर अन्तरंगसे यही समझते हैं कि अरे, यह तो पराई है। उसी तरह रागादिकोंसे यदि जरूरत

पडे तो काम भी निकाल लो पर अन्तरंगसे यही जानों कि अरे यह तो पराई है। और जब तक भइया पर को पर और अपने को अपना नहीं समझा तब तक कल्याण भी कैसे होयगा ? यदि रागादिकोंको अपनाते रहोगे तो कैसे बंधनसे छूटना होगा बतलाइए। अत रागादिकोंको हटानेकी आवश्यकता है। कैसी भी आपत्ति आजाय, समझो यह भी कर्मों का कर्जा है। समभाव से उसे सहन करलो। हां, उसमे हर्ष-विषाद मत करो। यह तुम्हारे हाथ की बात है। और भइया रागादिक नहीं हटे तो मनुष्यजन्म पानेका फल ही क्या हुआ ? संसार और कोई नहीं, रागादिक परिणति ही ससार है और उसका अभ व ही समयसार है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य युक्तयनुशासन [1] के अन्तमे लिखते हैं- कि' हे प्रभो ! मैं आपकी स्तुति रागसे नही करता हू , क्योंकि गुणीके गुणोंमे अनुरागका होना यही भक्ति कहलाती है। तो आपका गुण तो वीतराग है। इसलिए मैं उस वीतरागताका उपासक हूँ न कि रागका। और भी आगे उन्होंने लिखा कि मैं अन्य मतोंका

१. न रागान्न स्तोत्र भवति भवपाशच्छिदि मुनौ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसा।
हिताऽन्वेषोपायस्तवगुणकथासङ्गगदित ॥ ६४ ॥

क्यों खंडन करता हूँ ? इसका यह मतलब नहीं कि मैं उनसे किसी प्रकारका द्वेष करता हूँ बल्कि इसलिए कि मैं न्याय और अन्याय मार्गको बतलाना चाहता था कि यह न्याय मार्ग है और यह अन्याय मार्ग है। मेरा केवल इतना ही उद्देश्य था। तुम चाहे तो न्याय मार्गको अपनालो चाहे अन्याय मार्गको। यह तुम्हारे हाथ की बात है।

अत मनुष्यको अभिप्राय निर्मल रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए। इसीकी सारी महिमा है। श्रेणिक राजाको ही देखिए जब वह मुनिराजके गलेमें मरा हुआ सर्प डाल आए तो रानीसे जाकर सब हाल कह दिया। रानीने कहा अरे तुमने यह क्या किया ? राजा बोला वह तो गलेमें उतारकर फेंक देगा, रानीने कहा नहीं यदि वह सच्चे हमारे मुनि होंगे तो नहीं फेंक सकते, नहीं फेंक सकते। यदि फेंक दिया होगा तो वह नगा होते हुए भी हमारा मुनि नहीं। वहां दोनों जाकर पहुँचे तो देखा कि उनके गलेमें सर्पके कारण तमाम चीटियां चिपक गई हैं। दूर से देखते ही राजाके हृदयमें वह साम्यभावकी मुद्रा अंकित होगई। उसने मनमें सोचा कि मुनि है तो सचमुच यही है। रानीने उसी समय मुनिके समीप पहुंचकर खांड द्वारा उन चींटियोंको दूर किया। तो मतलब यही कि महिमा तो उसकी तभी हुई जब उसके हृदयमें साम्यभाव जाग्रत हुआ। और शास्त्रोंमें भी क्या लिखा है ? मनुष्यके अभिप्रायोंको निर्मल बनानेकी चेष्टा ही तो है। प्रथमानु-

योगमें वही पाप पुण्यकी कथनी है और चरणानुयोगमें भी वही मनुष्यके चारित्रका वर्णन है। गुणस्थान क्या हैं ? मनुष्यके परिणामोंकी ही परिणति तो हैं। पहिले गुणस्थान मिथ्यात्वसे लेकर चौदहवें गुणस्थान अयोगी पर्यंत मनुष्यमें ही तो समाते हैं। देवोंमें ज्यदासे ज्यदा चौथा गुणस्थान है। तिर्यंचोंमे पांचवे तक और नारकियोंमें ज्यादा से ज्यादा चौथा है। तो मनुष्य यदि चाहे तो संसारकी संततिको निर्बल कर सकता है। कोई बड़ी बात नहीं। एक ने कहा रामायण तो सब गपोड़ेबाजी है। उसमें सब कपोल कल्पित कलपनाएं भर रही हैं। दूसरा बोला यदि उसमें कल्पनाए हैं। तो यह तो मानोगे कि रावणने खोटा काम किया तो लोक निंदाका पात्र हुआ और रामने लोक प्रिय कार्य किया तो सुयशका अर्जन किया। वह बोला हा इसमे कोई आपत्ति नहीं। तो शास्त्र बांचनेका फल ही यह हुआ कि अपनेको सुधारनेकी चेष्टा करे। भगवानकी मूर्तिसे भी यही शिक्षा मिलती है कि अपनेको उसीके अनुसार बनाए। उन्होंने रागद्वेष हटाया, मध्यस्थ रहे तुम भी वैसा ही करो। मध्यस्थ बननेका यत्न करो। गुरु और क्यों पुज जाते हैं ? उन्होंने वही समता भाव धारण किया। लिखा भी है—

अरि-मित्र-महल-मसान-कंचन कांच-निन्दन-थुतिकरण।
अर्घा-वतारण-असि-प्रहारणमें सदा समता धरण ॥

मनुष्यको परिणामोंमें समता धारण करना चाहिए। तुम्हारे दिलमें यदि प्रसन्नता हुई तो कह दिया कि भगवान आज तो प्रसन्न मुद्रामे है। वैसे देखा जाय तो भगवान न तो प्रसन्न हैं और न रूष्ट। अपने हृदयकी प्रसन्नताको तुमने भगवान पर आरोप कर दिया कि आज तो हमें मूर्ति प्रसन्नमना दिखाई देती है पर देखो तो वह जैसेकी तैसी ही है। अतः मनुष्य यदि अपने परिणामो पर दृष्टिपात करे तो संसार बंधनसे छूटना कोई बड़ी बात नही है।

हम ही लोग अपनी शान्तिके बाधक हैं। जितने भी पदार्थ संसार में है उनमे से एक भी पदार्थ शान्त स्वाभावका बाधक नहीं। वर्तनमें रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बेमें रक्खा हुआ पान पुरूषमें विकृतिका कारण नहीं। पदार्थ हमें बलात्कार से विकारी नहीं करता, हम स्वय विकल्पोंसे उसमे इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दु खी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दु ख देता है, इसलिए जहां तक बने आभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धता पर सदैव ध्यान रहना चाहिए।

आगे कहते हैं कि ब्रह्मचर्यव्रत ही सर्व व्रतोंमें उत्तम है। इसके समान और कोई दूसरा व्रत नहीं है। जिसने इस व्रतको पाल लिया उसके अन्य व्रत अनायास ही सध जाते हैं। पर इस व्रतका पालन करना कोई सामान्य बात नहीं है। स्त्री विषयक रागका जीतना बड़ा कठिन है। पहिले पार्सी थियटर चलते थे।

एक थियेटर मे पार्सी था, उसकी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। वे दोनों स्टेज पर अपना खेल जनताको बतलाते थे। एक दिन वह स्त्री स्टेज पर अपना पार्ट कर रही थी। एक मनुष्यने एक कागज पर कुछ लिखकर स्टेज पर फेंक दिया। उस स्त्रीने उस कागजको उठाकर बाँचा। बाचकर उस कागजको दियासलाईसे जलाकर अपने पैरोंसे कुचल दिया। इधर तो उसने कागजको कुचल दिया और उधर उस मनुष्यने कटारसे अपना गला काट लिया। तो स्त्री संबंधी राग बड़ा दुखदाई होता है। एक पुस्तकमें लिखा है — संसारमे शूरवीर कौन है ? उत्तरमे बतलाया—जो तरुण स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे बींधा जाने पर भी विकार भावको प्राप्त नहीं हुआ। वास्तवमे शूरवीर तो वही है।

और स्त्री सम्बंधी भोग भी क्या है ? उसमें कितनी देर का सुख है। अन्तमे तो इससे वैराग्य होता ही है। आपके सुदर्शन सेठकी कथा तो आगममें ही लिखी है। भर्तृहरिको ही देखिए। उनकी स्त्रीका नाम पिंगला था। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्रीका दुष्चरित्र देखकर वे संसारसे विरक्त होकर योगी हो गए थे। स्त्रीके विषय मे उस समय उन्होंने यह श्लोक कहा था —

> "यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता।
> साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः॥
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
> धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥"

क्यों खंडन करता हूँ ? इसका यह मतलब नहीं कि मैं उनसे किसी प्रकारका द्वेष करता हूँ बल्कि इसलिए कि मैं न्याय और अन्याय मार्गको बतलाना चाहता था कि यह न्याय मार्ग है और यह अन्याय मार्ग है। मेरा केवल इतना ही उद्देश्य था। तुम चाहे तो न्याय मार्गको अपनालो चाहे अन्याय मार्गको। यह तुम्हारे हाथ का काम है।

अत मनुष्यको अभिप्राय निर्मल रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए। इसीकी सारी महिमा है। श्रेणिक राजाको ही देखिए जब वह मुनिराजके गलेमें मरा हुआ सर्प डाल आए तो रानीसे जाकर सब हाल कह दिया। रानीने कहा अरे तुमने यह क्या किया ? राजा बोला यह तो गलेसे उतारकर फेंक देगा, रानीने कहा नहीं यद वह सच्चे हमारे मुनि होंगे तो नहीं फेंक सकते, नहीं फेंक सकते। यदि फेंक दिया होगा तो वह नगा होते हुए भी हमारा मुनि नहीं। वहां दोनों जाकर पहुँचे तो देखा कि उनके गलेमें सर्पके कारण तमाम चींटियां चिपक गई हैं। दूर से देखते ही राजाके हृदयमें वह साम्यभावकी मुद्रा अंकित होगई। उसने मनमें सोचा कि मुनि हैं तो सचमुच यही हैं। रानीने उसी समय मुनिके समीप पहुँचकर खांड द्वारा उन चींटियोंको दूर किया। तो मतलब यही कि महिमा तो उसकी तभी हुई जब उसके हृदय में साम्यभाव जाग्रत हुआ। और शास्त्रोंमें भी क्या लिखा है ? मनुष्यके अभिप्रायोंको निर्मल बनानेकी चेष्टा ही तो है। प्रथमानु-

योगमें वही पाप पुण्यकी कथनी है और चरणानुयोगमें भी वही मनुष्यके चारित्रका वर्णन है। गुणस्थान क्या हैं ? मनुष्यके परिणामोंकी ही परिणति तो हैं। पहिले गुणस्थान मिथ्यात्वसे लेकर चौदहवें गुणस्थान अयोगी पर्यंत मनुष्यमे ही तो समाते हैं। देवोंमें ज्यदासे ज्यदा चौथा गुणस्थान है। तिर्यचोंमें पांचवे तक और नारकियोंमे ज्यादा से ज्यादा चौथा है। तो मनुष्य यदि चाहे तो संसारकी संततिको निर्बल कर सकता है। कोई बड़ी बात नहीं। एक ने कहा रामायण तो सब गपोड़ेबाजी है। उसमें सब कपोल कल्पित कलपनाएं भर रही हैं। दूसरा बोला यदि उसमें कल्पनाएं हैं। तो यह तो मानोगे कि रावणने खोटा काम किया तो लोक निंदाका पात्र हुआ और रामने लोक प्रिय कार्य किया तो सुयशका अर्जन किया। वह बोला हा इसमे कोई आपत्ति नहीं। तो शास्त्र बाचनेका फल ही यह हुआ कि अपनेको सुधारनेकी चेष्टा करे। भगवानकी मूर्तिसे भी यही शिक्षा मिलती है कि अपनेको उसीके अनुसार बनाए। उन्होंने रागद्वेष हटाया, मध्यस्थ रहे तुम भी वैसा ही करो। मध्यस्थ बननेका यत्न करो। गुरु और क्यों पुज जाते हैं ? उन्होंने वही समता भाव धारण किया। लिखा भी है—

अरि-मित्र-महल-मसान-कंचन-कांच-निन्दन-थुतिकरण।
अर्घावतारण-असि-प्रहारणमें सदा समता धरण ॥

मनुष्यको परिणामोंमें समता धारण करना चाहिए। तुम्हारे दिलमें यदि प्रसन्नता हुई तो कह दिया कि भगवान आज तो प्रसन्न मुद्रामें है। वैसे देखा जाय तो भगवान न तो प्रसन्न हैं और न रूष्ट। अपने हृदयकी प्रसन्नताको तुमने भगवान पर आरोप कर दिया कि आज तो हमें मूर्ति प्रसन्नमना दिखाई देती है पर देखो तो वह जैसेकी तैसी ही है। अत मनुष्य यदि अपने परिणामों पर दृष्टिपात करे तो संसार बंधनसे छूटना कोई बड़ी बात नहीं है।

हम ही लोग अपनी शान्तिके बाधक हैं। जितने भी पदार्थ संसार में है उनमें से एक भी पदार्थ शान्त स्वाभावका बाधक नहीं। वर्तनमें रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बेमें रक्खा हुआ पान पुरूषमें विकृतिका कारण नहीं। पदार्थ हमें बलात्कार से विकारी नहीं करता, हम स्वय विकल्पोंसे उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दु खी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दु.ख देता है, इसलिए जहां तक बने आभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धता पर सदैव ध्यान रहना चाहिए।

आगे कहते हैं कि ब्रह्मचर्यव्रत ही सर्व व्रतोंमें उत्तम है। इसके समान और कोई दूसरा व्रत नहीं है। जिसने इस व्रतको पाल लिया उसके अन्य व्रत अनायास ही सध जाते हैं। पर इस व्रतका पालन करना कोई सामान्य बात नहीं है। स्त्री विषयक रागका जीतना बड़ा कठिन है। पहिले पार्सी थिएटर चलते थे।

एक थिएटर मे पार्सी था. उसकी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। वे दोनों स्टेज पर अपना खेल जनताको बतलाते थे। एक दिन वह स्त्री स्टेज पर अपना पार्ट कर रही थी। एक मनुष्यने एक कागज पर कुछ लिखकर स्टेज पर फेक दिया। उस स्त्रीने उस कागजको उठाकर बाँचा। बाचकर उस कागजको दियासलाईसे जलाकर अपने पैरोंसे कुचल दिया। इधर तो उसने कागजको कुचल दिया और उधर उस मनुष्यने कटारसे अपना गला काट लिया। तो स्त्री संबंधी राग बड़ा दुखदाई होता है। एक पुस्तकमे लिखा है — ससारमे शूरवीर कौन है? उत्तरमे बतलाया—जो तरुण स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे बीधा जाने पर भी विकार भावको प्राप्त नहीं हुआ। वास्तवमे शूरवीर तो वही है।

और स्त्री सम्बंधी भोग भी क्या है? उसमे कितनी देर का सुख है। अन्तमे तो इससे वैराग्य होता ही है। आपके सुदर्शन सेठकी कथा तो आगममे ही लिखी है। भर्तृहरिको ही देखिए। उनकी स्त्रीका नाम पिंगला था। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्रीका दुष्चरित्र देखकर वे ससारसे विरक्त होकर योगी हो गए थे। स्त्रीके विषय मे उस समय उन्होंने यह श्लोक कहा था —

"या चिन्तयामि सतत मयि सा विरक्ता।
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्त ॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
धिक् तां च त च मदन च इमां च मां च ॥"

अर्थात् जिसका मैं निरन्तर चिन्तवन किया करता हूँ वह मेरी स्त्री मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं किन्तु दूसरे पुरुष पर आसक्त है और वह पुरुष किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है तथा वह दूसरी स्त्री मुझपर प्रसन्न है। अतएव उस स्त्रीको उस पुरुषको उस कामदेवको इस (मेरी स्त्रीको) को और मुझको भी धिक्कार है। कार्तिकेयमुनिने कार्तिकेयानुप्रेक्षाके अन्तमे पाच बाल ब्रह्मचारियोंको ही नमस्कार किया है।

तो इस रागसे विरक्त होना अत्यन्त कष्टसाध्य है। और जिसको विरक्तता हो जाती है उसके लिए भोगोंका छोड़ना कोई बड़ी बात भी नहीं होती। पडित ठाकुरप्रसाद जी थे। वे दो विषयोंके आचार्य थे। उनकी दूसरी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। पडित जी उस पर पूर्ण आसक्त थे। उस समय उनकी आय ५०) रू० माहवार थी तो उस ५०) रू० मे से वे १०) रू० मासिक अपनी स्त्रीको देते थे। जब उनकी तरक्की १००) रू० मासिक हुई तो वे २०) रू० उसको देने लगे। और वह स्त्री सब रुपया गरीबोंको बाट दिया करती थी। जब उनके ५००)रू० माहवार हुए तो १००) रू० उसे देने लग गए। उन रुपयोंको भी वह दानमे दे दिया करती। एक दिन पंडितजी ने कहा—'देखो पैसा बहुत कठिनतासे कमाया जाता है। तुम दानमे व्यर्थ ही इतना रुपया दे दिया करती हो। वह बोली—पडितजी कौन हम आपसे रुपया मागने जाते हैं। तुम्हारी खुशी होती है तो तुम स्वयं ही देते हो।'

एक दिन की बात है। स्त्रीने पंडितजीको बुलाकर कहा—देखो आज तक हमने आपके साथ इतने दिनों तक भोग भोगे पर हमें विषयोमे कुछ भी मजा नहीं आया। ये आपके दो बाल बच्चे हैं। सॅभालिए। आजसे तुम हमारे भाई हुए और हम तुम्हारी बहिन हुई। पडितजो ऐसे वचनोंको सुनकर अवाक् रह गए। अन्तमे वे उससे बोले बहिन तुमने मुझे आज चेतावनी देकर सभाल लिया नही तो मै भोगोमे आसक्त होकर न जाने कौनसी दुर्गतिका पात्र होता'। तो भोगोंसे विरक्त रहने ही मे मनुष्यकी शोभा है। स्त्री सम्बन्धी रागका घटना ही सर्वस्व है। जब इस सबन्धी राग घट गया तब अन्य परिग्रहसे तो सुतरा अनुराग घट जाता है।

ससार वृद्धिका मूल कारण स्त्रीका समागमही है। स्त्री समागम होते ही पॉचो इन्द्रियोके विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते है। प्रथम तो उसके रूपको देखकर निरन्तर देखनेकी अभिलाषा रहती है, वह सुन्दर रूपवाली निरन्तर बनी रहे, इसके लिए अनेक प्रकारके उपटन तेल आदि पदार्थोंके सग्रहमे व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदिसे दुर्गन्धित न होजाय अत. निरन्तर चंदन, तेल, इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओका सग्रह कर उस पुतलीकी सम्भालमें सलग्न रहता है। उसके केश निरन्तर लबायमान रहे अत उनके अर्थ नाना प्रकारके गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तेलोंका उपयोग करता है। तथा उसके सरस कोमल

मधुर शब्दोंका श्रवण कर अपनेको धन्य मानता है और उसके द्वारा सम्पन्न नाना प्रकारके रसास्वादको लेता हुआ फूला नहीं समाता। कोमलांगको स्पर्श करके तो आत्मीय ब्रह्मचर्यका और बाह्यमे शरीर-सौन्दर्यका कारण वीर्य पात होते हुए भी अपनेको धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्रीके समागमसे ये मोही पंचेन्द्रियोंके विषयमे मकड़ीकी तरह जालमे फॅस जाते हैं। भर्तृहरि महाराजने जो कहा है वह तथ्य ही है—

मत्तेभ-कुम्भ-दलने भुवि सन्ति शूरा।
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षा॥
किन्तु ब्रवीमि बलिना पुरत प्रसह्य।
कन्दर्प-दर्प-दलने बिरला मनुष्या.॥

अर्थात्—संसारमे मदोन्मत्त हस्तीके कुम्भस्थल विदारण करने वाले शूरवीर है, और कुछ तेजस्वी सिंहके वध करनेमे भी दक्ष है किन्तु मैं कहता हू कि इन बलवानोंमे ऐसे मनुष्य विरले ही हैं जो काम देवके दर्प (घमण्ड) को दलने (नष्ट करने) में समर्थ हों।

परिग्रह ही दुःखका कारण है।

अब कहते हैं कि संसारमे परिग्रह ही दु खकी जड़ है। इस दुष्टने जहा पदार्पण किया वहीं कलह विसवाद मचचा दिया देखलो, इसकी बदौलत कोई भी प्राणी ससारमे सुखी नहीं है। एक गुरू और एक चेला थे। वे दोनों सिंहलद्वीप पहुचे।

वहाँ गुरूने दो सोनेकी ईंट लीं और चेलाको सुपुर्द कर कहा कि इन्हें सिर पर धर कर ले चल। वह ईंटे कुछ भारी थीं। अत चेलाने मनमे सोचा 'देखो' गुरूजी बडे चालाक हैं। आप तो स्वयं खाली चल रहे है और मुझे यह भार लाद दिया है।' दोनों चले जाते हैं। गुरू कहता है 'चेला' चले आओ। बडा भय है।' चेला बोलता है-'हा, महाराज चला आता हूं।' आगे मार्गमे एक कुआ मिला। चेलाने उन ईंटोंको उठाकर कुए मे पटक दिया। गुरूने कहा—'चेला चले आओ आगे बडा भय है।' चेला बोला-'हा, महाराज। परवाह मत करो। अब आगे कुछ भय नहीं है।' तो परिग्रह ही बोझा है। इससे जितना २ ममत्व हटाओगे उतना २ सुख प्रकट होगा। जितना २ अपनाओगे उतना ही दुख मिलेगा।

एक जगह चार लुटेरे थे। वे कहीं से १०००) रु० लूटकर लाए। चोरोंने ढाई ढाई सौ रुपये आपसमे बाट लिए। एकने कहा-अरे, जरा बाजारसे मिठाई तो लाओ, सब मिलकर परस्पर बैठकर खावेंगे। उनमेसे दो लुटेरे मिठाई लेने चल दिए। इन्होने आपसमे सोचा यदि जहरके लड्डू बनवाकर ले चलें तो बडा अच्छा हो। वे दोनो खातेही प्राणान्त होंगे और इस तरह वे ५००) रुपये भी अपने हाथ लग जायेगे। उधर उन्होने भी यही विचार किया कि यदि वे ५००) रुपये अपने पास आजाएँ तो बडा अच्छा हो और उन दोनोंको मारनेके लिए उन्होने भी

तीर बाण रख लिए। जब वे दोनों लड्डू लेकर आए तो इन्होंने तीर बाणसे उनका काम तमाम किया और जब उन्होने लड्डू खाए तो वे भी दुनियांसे चल बसे।

अत: संसारमे परिग्रहही पच पापोंके उत्पन्न होनेमे निमित्त होता है। जहा परिग्रह है, वहा राग है, और जहां राग है वहीं आत्माके आकुलता है तथा जहा आकुलता है, वही दुख है एवं जहां दुख है वहां ही सुख गुणका घात है, और सुख-गुणके घातहीका नाम हिंसा है। संसारमें जितने पाप हैं उनकी जड परिग्रह है। परिग्रहके त्यागे बिना अहिंसा तत्त्वका पालन करना असम्भव है। भारतवर्षमे जो यज्ञादिकसे हिंसाका प्रचार होगया था, उसका कारण यही तो है, कि हमको इस यज्ञसे स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे, देवता प्रसन्न होगे यह सब क्या था? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रहकी चाह न होती तो निरपराध जन्तुओंको कौन मारता? आज यह परिग्रह पिशाच न होता तो हम उच्च हैं, आप नीच है, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहां तक अपना प्रभाव प्राणियों पर गालिब किए हुए है कि सम्प्रदायवादोने धर्म तक को निजी मान लिया है। और उस धर्मकी सीमा बांध दी है। तत्त्वदृष्टिसे धर्म तो आत्माकी परिणति विशेषका नाम है, उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है? जो धर्म चतुर्गतिके प्राणियोंमे विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्योमे मानना क्या

न्याय है ? परिग्रह पिशाचकी ही यह महिमा है जो इस कूपका जल तीन वर्णोंके लिए है, इसमे यदि शूद्रोके घडे पड गये तब अपेय होगया ! टट्टीमे होकर नल आजानेसे पेय बना रहता है ! अस्तु, इस परिग्रह पापसे ही ससारके सर्व पाप होते हैं।

एक थका हुआ मनुष्य कुए पर जाकर सो गया। वह स्वप्नमे देखता है कि उसने किसी दुकान पर नौकरी की, वहांसे कुछ धन मिला तो एक जायदाद मोल ली। फिर वह देखता है कि उसकी शादी होगई और एक बच्चा भी उत्पन्न होगया। फिर वह देखता है कि बगलमे बच्चा सोया हुआ है और उसके बगलमे स्त्री पड़ी हुई है। अब उसकी स्त्री उससे कहती है कि जरा तनिक सरक जाओ, बच्चेको तकलीफ होती है। वह थोडा सरक जाता है। इस की स्त्री फिर कहती है कि तनिक और सरक जाओ, तनिक और सरक जाओ। अन्ततोगत्वा वह थोडा सरकते सरकते धड़ामसे कुएमे गिर पडा। जब उसकी नींद खुली तो अपनेको कुएमे पडा हुआ पाया। बड़ा पछताने लगा। उधरसे एक मनुष्य उसी कुए पर पानी भरने आया। इसने नीचेसे आवाज दी-भाई कुएमे से मुझे निकाल लो। उसने रस्सी डालकर उसको येन केन प्रकारेण कुएमेसे बाहर निकाला। जब वह निकल आया तो दूसरा मनुष्य पूछता है 'भाई-तुम कौन हो ?' उसने कहा-पहिले तुम बतलाओ, तुम कौन हो ? वह बोला 'मै एक गृहस्थी हूँ।' उसने जवाब दिया 'जब एक

मुझ गृहस्थीकी यह दशा हुई तो तू दूसरा कैसे जिन्दा चला आया।'

बन्धका स्वरूप

अब यहाँ पर बन्धका स्वरूप बतलाते हैं। निश्चयसे इस आत्माके केवल एक रागही बन्धका कारण है। जैसे तेल मर्दन युक्त पुरुष अखाडेकी भूमिमे रज कर बँधता है,-लिप्त होता है। वैसे ही रागादिककी चिकनाहट जीवको बन्धकी करानेवाली है। अब देखो लोक व्यवहारमे भी हिंसा उसे कहते हैं जिसने पर जीवका घात किया हो। लेकिन पर जीवका घातना यह बन्धका कारण नही है। बन्धका केवल अन्तरंगमें उसके मारनेके भाव हैं। आचार्योंने 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्रको रच दिया। इसका मतलब यही कि प्रमादके निमित्तसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। अत प्रमादसे किसी भी कार्यको करना हिंसा है। तुमने प्रमादके वशसे कोई भी कार्य किया, चाहे उसमे हिंसा हुई हो अथवा नहीं, लेकिन उसमे हिंसाका दूषण लग गया। अप्रमादमे यदि जीव हिंसा भी होगई तो उसमें हिंसा सम्बन्धी बन्ध नहीं, क्योकि तुम्हारा काम केवल देखना और प्रमादको विडारना था सो कर लिया। अतः सब अन्तरगसे बन्धकी क्रिया होती है। बाह्य वस्तुओसे कोई बन्ध नहीं होता यदि बाह्य वस्तुओंसे ही बन्ध होता तो समवसरणमें लक्ष्मी सहित जिनदेव विराजमान हैं पर फिर भी उनके बन्ध नहीं;

क्योंकि वहा अन्तरंगमे रागादिक कलुषता नहीं है। और क्या है ?

अब जो यह कहना कि मैं पर जीवको जिलाता तथा मारता हूं यह अध्यवसान करना भी मिथ्या है। प्रत्येक जीव अपनी आयुसे जीवित रहना है और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरण प्राप्त करता है। कोई किसीकी आयुको न देता है न हरता है। छत्रसालका नाम प्रसिद्ध है। जब भइया उसके पिताके नगर पर मुगलोंने आक्रमण किया तो उसकी सारी सेना हार गई। कोई चारा न देखकर आप अपनी स्त्री समेत भागनेको एक घोड़े पर असवार हुए। स्त्रीके उदरमे था गर्भ। ज्योंही वे भागनेको तैयार हुए उसी समय वह बच्चा पैदा होगया। अब वे दोनों बहुत असमजसमें पड़ गए कि अब क्या करना चाहिये ? इधर तो बच्चेका जन्म है और उधरसे सेनाका आक्रमण। तो उन्होंने अपने प्राण बचानेके लिए बच्चेको एक तरफ फेंका तो वह मकोड़ोंके झाड़मे जा पड़ा। उसके ठीक ऊपर था एक मधु-मक्खीका छत्ता। उसमेसे एक २ शहदकी बूंद निकले और उस बच्चे के मुखमे जा पड़े। इस तरह सात दिवस व्यतीत होगए। जब वे दोनो वापिस लौटे और बच्चेको वहा देखा तो हँसता खेलता हुआ पाया। उन्होंने उसे उठा लिया और नगरमे आकर करके बड़ी खुशिया मनाई। वही पुत्र वीर छत्रसाल नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसने आगे चलकर मुगलोंके दांत खट्टे किए। तो कहनेका

तात्पर्य यही कि जब मनुष्यकी आयु होती है तो उसको प्रायः ऐसे निमित्त मिल जाया करते हैं। और देखो, नारदका भी जन्म इसी प्रकार होता है। वैराग्य बुद्धि धारण कर वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लेते हैं पर फिर उन दोनोंके काम भावना जाग्रत होती है तो वही उपद्रव बढ़ा करते हैं। दोनोंके सम्भोगअवस्थामें स्त्रीके गर्भ रह जाता है। उसी समय मुनिराज उन्हें सम्बोधन करते हुए कहते हैं 'अरे, तुमने यहां आकर भी ऐसा उपद्रव मचाया। यह तुम लोगोंने क्या किया? जिस दीक्षाको धारण कर आत्म-कल्याण करना चाहिए था वहां तुमने आत्माको पतित बनाया। यदि ऐसा ही उपद्रव करना था तो घर बार काहेको छोड़ा था? ऐसी वाणीको सुनकर उन्हें तीव्र वैराग्य हो जाता है। पुरुष तो पुनः दीक्षा लेकर विहार कर जाता है पर स्त्री बेचारी क्या करे? उसके उदरमें तो गर्भ है। अतः जब बालकका जन्म होता है तो वह स्त्री बच्चेको लेकर कहती है 'बेटा, यदि तेरी आयु है तो तू यहां वनमें भी अनायास पाला जा सकता है और आयु शेष नहीं है तो मेरा आंचलका दूध पीते हुए भी नहीं जी सकता। इतना कहकर बालकको वहीं पड़ा छोड़ आप भी पुनः दीक्षा लेकर आर्यिका हो जाती है। तब वही बालक आगे चलकर नारद होता है जो देवों द्वारा लाया जाकर ऋषियों द्वारा पाला जाता है। तो मनुष्य आयुसे ही जीवित रहता है और आयु न होनेसे मरण प्राप्त करता है।

निश्चयसे केवल अन्तरंगका अध्यवसान ही बंधका कारण होता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ। बाह्य वस्तुओं से बन्ध नहीं होता वह तो अध्यवसानका कारण है। इसीलिए चरणानुयोगकी पद्धतिसे बाह्य वस्तुओंका निषेध किया जाता है: क्योंकि जहाँ कारण होता है वहीं कार्यकी सिद्धि है। अत आचार्योंने पराश्रित व्यवहार सभी छुड़ाया है केवल शुद्ध आनन्द स्वरुप अपनी आत्माका ही अवलम्ब ग्रहण कराया है। अब देखिए सम्यग्दृष्टिके चारित्रको कुचारित्र नहीं कहा और द्रव्यलिंगी मुनि जो एकादश अगके पाठी हैं फिर भी उनके चारित्रको कुचारित्र बतला दिया। तो केवल पढ़नेसे कुछ नहीं होता जिस पठन-पाठनके फलस्वरुप जहा आत्माको बोधका लाभ होना चाहिए था वह नहीं हुआ तो कुछ भी नहीं किया। हम नित्य पुस्तकोंको खोलते हैं, उस पर सुन्दर सुन्दर पुट्ठे भी चढाते हैं पर अन्तरगका कुछ भी ख्याल नहीं करते तो क्या होता है?

अतःसब अन्तरंगसे ही बधकी क्रिया होती है। यदि स्त्री भी त्यागी, घर भी त्यागा और दिगम्बर भी होगए, पर अन्तरग-की राग द्वेषमयी परिणतिका त्याग नहीं हुआ तो कुछ भी त्याग नहीं किया। सांपने केचुलीका तो त्याग कर दिया पर अन्तरगका जो विष है उसका त्याग नहीं किया तो क्या फायदा? जब तक आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग नहीं होता तब तक किञ्चित् भी त्याग नहीं कहलाता। अब देखिए, कुत्ते को लाठी मारी जाती है

तो वह तो लाठी पकड़ता है, परन्तु सिंहका यह कायदा है कि वह लाठीको न पकड़ मनुष्यको ही पकड़ता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अन्तरग परिग्रह जो रागादिक हैं उन्हें हटानेका यत्न करता है पर मिथ्यात्वी ऊपरी टीपटापमे ही धर्म मान बैठता है। एक प्रात कालकी लालामी है तो एक सायकालकी लालामी। प्रात काल की लालामी तो उत्तर कालमे प्रकाशका कारण है और सायकालकी लालामी उत्तर कालमे अन्धकारका कारण है। दोनो हैं लालामी ही। अत यह सब अन्तरंगके परिणामोंका जाति है। सुदर्शनसेठको रानीने कितना फुसलाया पर वह अपने सम्यक् परिणामों पर दृढ बने रहे। तो बाह्यमे कुछ भी क्रिया करो, क्या होता है? हम लोग निमित्तोको हटानका प्रयत्न करते हैं अरे, निमित्तोंको हटानेसे होगा क्या? हम आपसे पूछते हैं। किस किस का निमित्त बनाकर हटाओगे? तीनों लोकोंसे निमित्त भरा पड़ा है। तो वह अन्तरंगका निमित्त हटाओ जिसकी वजहसे अन्य निमित्तोंको हटानेका प्रयत्न किया जाता है। तो अन्तरंगमें वह कलुषता हटानेकी आवश्यकता है। उस कलुषतासे ही बध होता है। तुम चाहे कुछ भी कार्य करो पर अन्तरंगमे जैसे तुम्हारे अध्यवसान है उसीके अनुसार बन्ध होगा। एक मनुष्यने दूसरेका तलवारसे मारा तो तलवारको कोई फासी नहीं देता। मनुष्य ही फांसी पर लटकता है। तो बाह्य वस्तुओंको त्यागनेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है अन्तरंगके रागादिक त्यागकी सम्यक्त्वी क्रोध भी करता है पर अन्तरग

से जानता है कि ये मेरे निज स्वभावकी चीज नहीं है। औदयिक परिणाम हैं मिटनेवाली चीज है। अत: त्यागनेका प्रयत्न करता है। यह त्यागको ही सर्वस्व मानता है। पंचम गुणस्थान देशव्रतमे अव्रतका त्याग किया, अप्रमत्तमे प्रमादका त्याग किया और आगे चढ़ा तो सूक्ष्मसाम्परायमे लोभका त्याग किया और क्षीणमोहमे मोहका त्याग कर एक निज शुद्ध स्वरूपमे ही रह गया। इससे जैन धर्मका उपदेश त्याग प्रधान है। हम लोग बाह्य वस्तुओंका त्याग कर अशान्तिको बढ़ा लेते हैं। अरे, त्यागका यह मतलब थोड़े ही था। त्यागसे तो सुख और शान्तिका उद्भव होना चाहिए था सो नहीं हुआ तो त्यागसे क्या लाभ उठाया? त्यागका अर्थ ही आकुलताका अभाव है। बाह्य त्यागकी वहीं तक मर्यादा है जहाँ तक वह आत्मपरिणामोंमें निर्मलताका साधक हो। तो आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग परमावश्यक है। पर भइया परिग्रह त्याग बहुत मुश्किल है, कोई सामान्य बात नहीं है। और परिग्रहसे ही देखो सारे झगड़े हैं। अब तुम्हारे पॉकेटमें दाम भरे हुए हैं तो जेबके कट जानेका भय है। मुनि हैं नंगे हैं तो उन्हें काहेका भय? भैया! परिग्रह त्यागमे ही सुख है। तुम परिग्रहको मत त्यागो पर दोष तो उसे जानो, मानो यह तो संसार बेलको बढ़ाने वाला है। भोजन खानेका निषेध नहीं है, परन्तु दोष तो उसे मानो समझो, उसमे मजा नहीं है। भगवानका पूजन भी करो, परन्तु यह तो मानो कि साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। अत: अन्तरंग में एक केवल शुद्धात्माका ही अनुभव करो।

अब देखो कहते हैं कि हम तुम एक हैं। मोहकी महिमा तो देखो। हम और तुम अलग अलग कहता ही जा रहा है और एक बतला रहा है कि हम तुम एक हैं। अब तुम देखो मुनिके पास जाओ तो क्या कहेंगे? यही कि हम सरीखे हो जाओ। और क्या? घर छोड़ो, बाल बच्चे छोड़ो और नंग धड़ग हो जाओ तो भइया क्या करे उनके उसी चालका मोह है। जैनी कहते हैं कि सब संसार जैनी हो जाए। मुसलमान सबको मुसलमान हो जानेको कहते है और ईसाई सबको ईसाई बनाना चाहते हैं। तो सब अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग अलापते हैं क्योंकि उनके पास उसी चालका मोह है। अत. मोहकी विलक्षण महिमा है। मुनि तो चाहते हैं कि सब संसार मुनि होजाए पर होय कैसे? संसारका चक्र ही ऐसा चला आया है।

कोई कहे कि हमारी आत्मा तो भोजन करती ही नहीं इसलिए हम भोजन क्यों करें? मत करो। कौन कहता है कि तुम भोजन करो। पर दो ही दिन बाद क्षुधाकी वेदना सताने लगेगी। क्योंकि मोहकी सत्ता जो विद्यमान है। उसके होते हुए भोजन कैसे नहीं करोगे? हाँ, मोहं जिनका नष्ट होगया है उनको कोई क्षुधाकी वेदना नहीं है। औदारिकशरीर होते हुए भी उसकी वेदना उनको नहीं सताती। अतः मोहसे ही क्षुधा लगती है। तो कार्य धीरे-धीरे ही होता है। वृक्ष भी देखो समय पर ही

फूलता फलता है। एक मनुष्य था। वह मार्गमें चला जा रहा था। उसने एक बुढ़ियाको जाडेमें ठिठुरते हुए देखा। उस पर उसे दया आगई और अपना कम्बल उसे दे दिया। पर जाडा बहुत पड़ रहा था। उसे ठड सहन नहीं हुई तो आप किसी मकानमे घुस गया और वहाँ छप्पड़ खींचने लग गया। 'कौन है' मकान वालेने पूछा। वह बोला 'मैं हूँ' धर्मात्माका दादा। वह तुरन्त आया और उससे छापर खींचनेका कारण पूछा। उसने कहा—मेरे पास एक कम्बल था सो मार्गमे मैंने एक बुढियाको दे दिया। पर मुझे ठड बहुत लग रही थी तो मैं यहां चला आया। मकान वालेने कहा—अरे, जब तुझ पर ठंड सहन नहीं हुई तो अपना कम्बल उस बुढ़ियाको ही क्यों दिया? वह चुप रहा और धीरेसे निकलकर अपना मार्ग जा नापा। तो तात्पर्य यही कि अपनी जितनी शक्ति हो उसीके अनुसार कार्य करना चाहिए। मान बडाईमे आकर शक्तिसे परे आचरण करना तो उल्टी अपनी पूंजी खोना है।

वास्तवमे यदि विचार किया जाय तो कल्याण करनेमे कुछ नहीं है। केवल उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। जब नकुल शूकर और वानर आदि तिर्यंचोंने अपना कल्याण कर लिया तो हम तो मनुष्य है, सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय हैं। क्या हम अपना कल्याण नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं।

मनुष्य यदि चाहे तो देवोंसे भी बड़ा बन सकता है। अभी त्याग मार्गको अपना ले तो आज वह देवोंसे बड़ा बन

जाय। तो मनुष्य वास्तवमे क्या नहीं कर सकता ? वह तप, यम, संयम सब कुछ पाल सकता है जो देवोंको परम दुर्लभ हैं। वे देव यदि तप करना चाहें अथवा सयम पालना चाहें तो नहीं पाल सकते। ऊपरसे हजारों वर्ष तक नहीं खावें पर अन्तरंगमें तो उनकी चाह खानेकी नहीं मिटती। तो मनुष्य पर्याय क्यों उत्तम बतलाई कि उसमे बाह्याभ्यंतर त्याग करनेकी शक्ति है। अरे देव ज्यादासे ज्यादा नदीश्वर द्वीप चले गए, पच कल्याणक के, उत्सव देख लिए और क्या है। चौथे गुणस्थानसे तो आगे नहीं बढ़ सकते। पर मनुष्य यदि चाहे तो चौदह गुणस्थान पार कर सकता है—यहाँ तक कि वह स्वार्थ-सिद्धिके देवों द्वारा पूजनीक हो सकता है। और तुम चाहो जो कुछ बन जाओ। चाहे पाप करके नरक चले जाओ। चाहे पुण्योपार्जन करके स्वर्गमे, और पाप-पुण्यको नाश कर चाहे मोक्ष चले जाओ। २५ गत्यागति हैं, चाहे किसीमे भी चले जाओ। यह तुम्हारे हाथकी बात है।

अब माघनंदि आचार्यको ही देखो। दूसरे आचार्यने शिष्यसे कहा जाओ, उस माघनदि आचार्यके पास, वही प्रश्नका उत्तर देंगे। तो क्या उनको उस प्रश्नका उत्तर नहीं आता था ? पर क्या करे ? उनको किसी तरह जो अपना पद बतलाना था। अत अपने पदको पहिचानो। यही एक अद्वैत है। उसीका केवल अनुभव करो। और देखो, यदि अनुभवमें आवे तो उसे मानो नातर जबर्दस्ती नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्यने यही कहा कि

अनुभवमें आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। जबर्दस्तीका मानना माननेमें मानना नहीं हुआ करता। कोई कहे आत्मा तो अमूर्तिक है, वह दिखती ही नहीं तो उसे देखनेकी क्या चेष्टा करे? तो कहते हैं कि वह दिखनेकी चीज ही नहीं है, अनुभव-गोचर है। अब लोकमे भी देखो जिसको वातरोग होजाता है उसका दुख वही जानता है। बाह्यमे वह रोग प्रकट नहीं दिखता पर जिसके दर्द है उसे ही अनुभव होता है। तो ऐसी बात नहीं। वह तो एक अनुभवकी चीज है। आचार्योंने स्पष्ट लिख दिया—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

यह देवका स्वरूप है। निरारंभी गुरु है। दयामयी धर्म है। अथवा वस्तु स्वभाव है उसका वही धर्म है। यदि यह अनुभव मे आवे तो मानो नातर मत मानो। अत जैसे आत्मा अनुभव मे आवे वही आय श्रेयस्कर है।

अब कहते हैं कि सब द्रव्योंके परिणाम जुदे जुदे हैं। अपने अपने परिणामोंके सब कर्ता हैं। जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और अजीव अपने परिणामोंका यह निश्चय नयका सिद्धान्त है। पर मनुष्यको जब तक भेदज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक वह अपनेको परद्रव्योंका कर्ता अनुभव करता है। लेकिन परद्रव्योंका कर्ता त्रिकालमें नहीं होता। जैसे तन्तुवायने ताना बाना करके वस्त्र तैयार किया, पर तन्तुवायका क्या एक अंश भी

वस्त्रमें गया ? उसका परिणामन वस्त्रमें हुआ और तन्तुवाय का परिणामन तन्तुवाय में । पर तन्तुवाय ने वस्त्र बनाया ऐसा सब कोई व्यवहारसे कहता है पर न्यायसे ऐसा नही है । वस्त्रकी क्रिया वस्त्रमें ही हुई है । अत वह वस्त्रका कर्ता नहीं है । ज्ञानी केवल अपने ज्ञानका कर्ता है । वह दूसरे ज्ञेयोंको जानता है । यदि पूर्वोपार्जित कर्मका उदय भी आता है तो उस कर्मफल को वह जानता ही है अत समतासे भोग लेता है ।

हम पर द्रव्योंको अपनी मान लेते है तभी दुखी होते है । कोई इष्ट वस्तुका वियोग हुआ तो दुखी होकर चिल्लाने लगे । क्यों ? उसे अपनी मान लिया । कोई अनिष्ट वस्तुका सयोग होगया तो आर्तध्यान करने लगे । यह सब पराई वस्तुको अपना माननेका कारण है । तो आपा मानना मिथ्या है । यदि पुत्र उत्पन्न हुआ समझो हमारा नहीं है । स्त्री भी घरमे आई तो समझो पराई है । ऐसा समझो पर उनका वियोग भी हो जायगा तो तुम्हे दुख नहीं होगा । अब देखो, मुनि जब विरक्त हो जाते है तो स्त्रीसे स्वत्व बुद्धि ही तो हटा लेते है । और जब वह स्त्री मुनिको पडगाह लेती है तो क्या आहार नही लेते ? और उनके हाथमे भोजन भी रखती है तो क्या आख मीच लेते हैं ? नहीं । उसे देखते है, आहारको भी शोधकर खाते है पर उससे मूर्छा हटा लेते है दुनिया भरके कार्य करो कौन निषेध करता है ? पुत्रको पालो, कुटुम्बको खिलाओ पर अपनेसे जुदा समझो । इसी तरह

पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर समझो हमारा नहीं है। यदि इसे खिलाओगे नहीं तो बताओ काम कैसे देगा ? अरे, हाड मास चाम बने रहो इससे हमारा क्या बिगडता है ? बने रहो, पर इसे खिलाओ नहीं यह कहा का न्याय है ? इसे खिलाओ पिलाओ पर इससे काम भी पूरा लो। नौकरको मत खिलाओ तो देखें कैसे काम करेगा ? मुनि क्या शरीरको खिलाते नही है ? इसे खिलाते तो है पर उससे पूरा २ काम भी लेते है। पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर उसे अपना मत मानो। माननेमे ही केवल दोष है। रस्सीको सर्प मान लिया तो गिर रहे हैं, पड़ रहे है, चोट भी खा रहे हैं। तो यह क्यो ? केवल ज्ञानमें ही तो रस्सीकी कल्पना करली। और रस्सी कभी सर्प होती नहीं इसी तरह पुद्गल कभी आत्मा होता नहीं। पर अज्ञानसे मान लेते हैं। बस यही केवल भूल है। उस भूलको मिटाकर भेद-ज्ञान करो। समझो आत्मा और पुद्गल जुदा द्रव्य है। तो भइया उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य करे तो ससार क्या है ?

एक लकड़हारा था। वह रोज एक मन लकडीका गट्ठा लाता और बाजारमें बेच देता। एक दिन उसने पण्डितजीसे व्याख्यान सुना। उसमे उन्होंने कहा कि यह पुद्गल जुदा और आत्मा जुदा है—यह सम्यग्दर्शन है। और फिर पंच पापोका स्वरूप बतलाया। उसने सोचा मैं हिंसा तो करता ही नहीं हू। और यह एक मन लकड़ीका गट्ठा लाता हूं तो इसे आठ आनेमे

बेच लिया करूँगा। मेरे यही एक भाव होगा। इस तरह झूठ भी नहीं बोलूँगा। मैं किसीकी चोरी तो करता ही नहीं हूं अत चोरीका भी सहजमे त्याग हो जायगा। मेरे एक अकेली स्त्री है, इसलिए पर स्त्रीका भी त्याग कर दूंगा। और पांचमा परिग्रह प्रमाण है। तो मुझे लकडी बेचनेमे आठ आने मिलेंगे ही। उसमे तीन आने तो खानेमे खर्च लूँगा, दो आने बचाऊंगा, एक आना दान करूंगा और दो आने कपड़े आदिमें खर्च करूगा। इस तरह परिग्रह प्रमाण भी कर लूगा। ऐसा सोचकर उसने उसी समय पंच पापोंका त्याग कर दिया। अब रोज मरो वह लकडी लाता और बाजारमे बेचनेको रख देता। उसके पास ग्राहक आते और पूछते 'क्या लकडी बेचेगा ?' वह बोलता 'बेचनेके लिए ही तो लाता हू।' ग्राहक कहते 'क्या दाम लेगा' ? वह बोलता 'आठ आने'। वे कहते कुछ कम करेगा वह कहता 'नहीं', महाराज ! मेरी एक मन लकड़िया हैं, इसे तौलकर देखलो यदि ज्यादा होंय तो दाम देना, नहीं मत देना'। जब उन्होंने तोलकर देखा तो ठीक एक मन निकली। उसे उन्होंने आठ आने दे दिए। इस तरह रोज उसकी लकड़ी बिक जाया करती। एक दिन जब वह लकड़ी ले जारहा था तो रास्तेमें एक नौकरने आवाज दी 'अरे, क्या लकडी बेचेगा ? उसने कहा 'हां' 'क्या दाम लेगा, नौकरने पूछा। उसने कहा 'आठ आने'। 'सात आने लेगा' नौकर बोला। उसने कहा 'नही'। फिर उसने

बुलाया और कहा 'अच्छा, साढ़े सात आने लेगा'। वह बोला 'अरे, तू किस बेवकूफका नौकर है। एक बार कह दिया नहीं दूंगा। ऊपरसे उसका सेठ सुन रहा था। वह एक दम गरम होके नीचे आया और बोला 'अबे, क्या बकता है?' उसने कहा 'ठीक कहता हूं।' यदि तुम सत्य बोलते तो क्या तुम्हारा असर इस नौकर पर नहीं पड़ता। सेठ और भी क्रोधित हुआ। उसने फिर कहा 'यदि तुम क्रोधित होओगे तो मैं तुम्हारी पोल खोल दूंगा। तुम महा बदमाश पर स्त्री लपटी हो। इतने दिनों तक शास्त्रश्रवण किया पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मैंने एक बार ही सुनकर पंच-पापोंका त्याग कर दिया। सेठ उसके ऐसे वचन सुनकर एक दम सहम गया। गर्ज यह है कि उसने भी उसी समय पंच पापोंका त्याग कर दिया। तो देखो, उस पर वक्ताका असर नहीं पड़ा और उस लकड़हारे का उपदेश लग गया। तो हम सुमार्ग पर चलते हैं तब दूसरों पर असर पड़ता है। हम रोते हैं कि हमारे बच्चे कहना नहीं मानते। अरे, मानें कैसे? तुम तो सुमार्ग पर चलते नहीं तो वे कैसे तुम्हारा कहना मानें। बताओ। तुम तो स्वयं शुद्ध भोजन करते नहीं फिर कहते हो कि बीमार पड़ गए। ये जितनी भी बीमारियां होती हैं सब अशुद्ध भोजन खानेसे होती हैं। तुम तो बाजारसे चाट उड़ाओ और घर आकर अपनी स्त्रीसे कहो कि बाजारका मत खाओ। और कदाचित् खा भी ले तो फिर कहते हो हमारी स्त्री बीबी

बन गई। अरे बीबी नहीं, वह तो बाबा होजायगी। आप स्वयं शुद्ध भोजन करनेका नियम तो लो, वह दूसरे दिन स्वयं शुद्ध बनाने लगेगी। यदि तुम्हें फिर भी शुद्ध भोजन न मिले तो चक्की लेकर बैठ जाओ। दूसरे दिन वह स्वयं अपने आप पीसना शुरू कर देगी। तुम तो पर स्त्री लंपटी बनो और स्त्रीको ब्रह्मचर्यका उपदेश करो। आप तो रावण बनो और स्त्रीसे सती सीता बननेकी आशा करो। कैसा अन्याय है? ध्यान दो-यदि स्त्रीको सीता रूपमें देखना चाहते हो तो तुम स्वयं राम बनो, राम जैसे कार्य करो। तभी तुम्हारी कामनाएं सफल होंगी।

तुम कहते हो कि जितने भी त्यागी आते हैं वह यही उपदेश करते हैं कि यह त्यागो, वह त्यागो। तो वह तो तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं। अरे, तुम पर वस्तुओंको अपना माने हुए हो तभी तो वह त्यागनेका उपदेश करते हैं। और चोरटापन क्या है? पराई वस्तुको अपनी मानना यही तो चोरटापन है। तो वह तुम्हारा यह चोरटापन छुड़ाना चाहते हैं और वह तुम्हें बुरा लगता है। हां, यदि तुम्हारे निजकी चीज छुड़ाए तो तुम कह सकते हो। ज्ञान दर्शन तुम्हारी चीज हैं। उसे अपनाओ। लेकिन पर द्रव्योंको क्यों अपनाते हो? यह कहांका न्याय है? अत वह तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं।

इस जीवके अनादिसे चार संज्ञाएं लग रही हैं। अब बताओ आहार करना कौन सिखलाता है? इसी तरह पुद्गलमें

भी इसकी आत्मीय बुद्धि लग रही है। अब देखो यह लाल कपड़ा हम पहिने हुए हैं। तो इस लाल कपड़ेको पहिननेसे क्या यह शरीर लाल होजाता है ? यह कपड़ा इतना लम्बा चौड़ा है, इतना मोटा पतला है तो क्या यह शरीर इतना लम्बा चौड़ा दुबला पतला होजाता है ? नहीं। इसी तरह यह शरीर कभी आत्मा होता नहीं। इस शरीरमे जो पूरण गलन स्वभाव है वह कभी आत्माका नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि जो पुद्गलकी क्रिया है वह त्रिकालमे आत्माकी क्रिया नहीं है। अपनी वस्तुको अपना मानना ही बुद्धिमानोंका कार्य है।

तो भइया यह कोई बड़ी बात नहीं है। इस तरफ केवल हमारा लक्ष्य ही नहीं है। पर कमसे कम इतना तो जरूर होजावे कि इस पुद्गलसे यह अभिप्राय हटा ले कि 'इदम मम्' यह मेरा है। श्रद्धामे यह तो बिलकुल जम जावे। हम तो कहते हैं कि चारित्रको पालो या मत पालो कोई हर्ज नहीं। गृहस्थीके त्यागकी भी आवश्यकता नहीं। पर यह श्रद्धान तो दृढ़ होजाना चाहिए। अरे, चारित्र तो कालान्तर पाकर हो ही जायगा। जब यह जान लिया कि यह मेरी चीज नहीं है तो उसे छोड़नेमे कोई बड़ी भारी बात नहीं। अब तीर्थंकरोंको ही देखिए। जब तक आयु पूर्ण न होय तब देखें मोक्ष कैसे चले जॉय। तो श्रद्धानमें यह निश्चय बैठ जाना कि न मैं पुद्गलका हूँ और न पुद्गल मेरा है। इसके

बिना करोड़ों जप तप करो कुछ फलदायी नहीं। अतः श्रद्धामें अमोघ शक्ति है।

त्यागका वास्तविक रूप

आज आकिञ्चन्य धर्म है पर दो द्वादशी हो जानेसे आज भी त्याग धर्म माना जायगा। त्यागका स्वरूप कल आप लोगोंने अच्छी तरह सुना था। अब उसके अनुसार कुछ काम करके दिखलाना है।

मूर्च्छाका त्याग करना त्याग कहलाता हैं। जो चीज आपकी नहीं है, उसे आप क्या छोड़ेंगे? वह तो छूटी ही है। रूपया, पैसा धन दौलत सब आपसे जुदे है। इनका त्याग तो है ही। आप इनमें मूर्च्छा छोड़ दो, लोभ छोड़ दो; क्योंकि मूर्च्छा और लोभ तो आपका है—आपकी आत्माका विभाव है। धनका त्याग लोभ कषायके अभावमें होता है। लोभका अभाव होनेसे आत्मामें निर्मलता आती है। यदि कोई लोभका त्यागकर मान करने लग जाय-दान करके अहङ्कार करने लग जाय तो वह मान कषायका दादा होगया। 'चूल्हेसे निकले भाड़में गिरे' जैसी कहावत होगई। सो यदि एक कषायसे बचते हो तो उससे प्रबल दूसरी कषाय मत करो।

देखें, आप लोगोंमें से कोई त्याग करता है या नहीं। मैं तो आठ दिनसे परिचय कर रहा हूँ। आज तुम भी करलो। इतना काम तुम्हीं करलो।

एक आदमीसे एकने पूछा—आप रामायण जानते हो तो बताओ उत्तर काडमे क्या है ? उसने कहा—अरे, उत्तर-कांडमें क्या धरा ? कुछ ज्ञान ध्यानकी बाते है। अच्छा, अरण्य काडमे क्या है ? उसमे क्या धरा ? अरण्य वनको कहते है, उसीकी कुछ बाते है। लङ्का काडमे क्या है ? अरे, लङ्काको कौन नही जानता ? वही तो लङ्का है जिसमे रावण रहा करता था। भैया ! अयोध्याकाडमे क्या है ? बडी बात पूछी उसमे क्या है ? वही तो अयोध्या है जिसमे रामचन्द्रजी पैदा हुए थे। अच्छा, बाल-काण्डमे क्या है ? खूब रही, इतने काण्ड हमने बताए, एक काण्ड तुम्ही बतला दो। सभी काण्ड हम ही से पूछना चाहते हो। उसी प्रकार हमारा भी कहना है कि इतने धर्म तो हमने बतला दिए। अब एक त्याग धर्म तुम्ही बतलादो। और हमसे जो कुछ कहो सो हम त्याग करनेको तैयार है—कहो तो चले जाये। (हंसी)। आपके त्यागसे हमारा लाभ नही—आपका लाभ है। आपकी समाजका लाभ है, आपके राष्ट्रका लाभ है हमारा क्या है ? हमें तो दिनमे दो रोटियां चाहिए, सो आप न देंगे, दूसरे गांववाले दे देंगे। आप लुटिया न उठाओगे तो (क्षुल्लकजीके हाथसे पीछी हाथमे लेकर) यह पीछी और कमण्डलु उठाकर स्वयं बिना बुलाए आपके यहा पहुंच जाऊगा। पर अपना सोचलो, आज परिग्रह के कारण सबकी आत्मा हाथका इशारा कर यो कॉप रही है। रात दिन चिन्तित है—कोई न ले

जाय। कंपनेमे क्या धरा? रक्षाके लिये तैयार रहो। शक्ति सञ्चित कर। दूसरेका मुंह क्या ताकते हो? या अटूट श्रद्धान रक्खो जिस कालमें जो बात जैसी होने वाली है वह उस कालमें वैसी होकर रहेगी।

यद्‌भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः॥

यह नीति बच्चोंको हितोपदेशमें पढ़ाई जाती है। जो काम होने वाला नहीं वह नहीं होगा और जो होने वाला है वह अन्यथा प्रकार नहीं होगा। महादेवजी तो दुनियांके स्वामी थे पर उन्हें एक वस्त्र भी नहीं मिला। और हरि (कृष्ण) ससारके रक्षक थे उन्हें सोनेके लिए मखमल आदि कुछ नहीं मिला। क्या मिला? सर्प।

"जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुं नहिं होसी काहे होत अधीरा रे॥"

होगा तो वही जो वीतरागने देखा है, जो बात अनहोनी है वह कभी नहीं होगी।

दिल्लीकी बात है। वहाँ ला० हरजसराय (?) रहते थे। करोड़पति आदमी थे। बड़े धर्मात्मा थे। जिन-पूजनका नियम था। जब संवत् १४ (?) की गदर पड़ी तब सब लोग इधर उधर भाग गये। इनके लड़कोंने कहा-पिताजी! समय खराब है, इसलिए स्थान छोड़ देना चाहिए। हरजसरायने कहा-तुम लोग

जाओ, मैं वृद्ध आदमी हूं। मुझे धनकी आवश्यकता नहीं। हमारे जिनेन्द्रकी पूजा कौन करेगा ? यदि आदमी रखा जायगा तो वह भी इस विपत्तिके समय यहां स्थिर रह सकेगा, यह सम्भव नहीं। पिताके आग्रहसे लड़के चले गये। एक घण्टे बाद चोर आये। हरजसरायने स्वयं अपने हाथों सब तिजोरियां खोल दीं। चोरोंने सब सामान इकट्ठा किया। ले जानेको तैयार हुए, इतनेमें एकाएक उनके मनमें विचार आया कि कितना भला आदमी है ? इसने एक शब्द भी नहीं कहा। लूटनेके लिए सारी दिल्ली पड़ी है, कौन यही एक है, इस धर्मात्माको सताना अच्छा नहीं। हरजसरायने बहुत कहा, चोर एक कणिका भी नहीं ले गये। और दूसरे चोर आकर इसे तङ्ग न करे, इस ख्यालसे उसके दरवाजे पर ५ डाकुओंका पहरा बैठा गये। मेरा तो अब भी विश्वास है कि जो इतना दृढ़ श्रद्धानी होगा उसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। "बाल न बांका कर सके जो जग ही रिपु होय।" जिसके धर्म पर अटल विश्वास है सारा संसार उसके विरुद्ध होजाये तो भी उसका बाल बांका नहीं हो सकता। तुम ऐसा विश्वास करो, तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ ले तो मैं जिम्मेदार हूं, लिखालो मुझसे।

मैं श्रद्धाकी बात कहता हूं। बरूआसागरमें मूलचन्द्र था बड़ा श्रद्धानी था। उसके पांच विवाह हुए थे। पांचवी स्त्रीके पेटमें गर्भ था। कुछ लोग बैठे थे, मूलचन्द्र था। किसीने कहा

के मूलचन्द्रके बच्चा होगा, किसीने कहा बच्ची होगी इस प्रकार सभीने कुछ न कुछ कहा। मूलचन्द्र मुझसे बोला—आप भी कुछ कह दो। मैंने कहा भैया! मैं निमित्त ज्ञानी तो हूँ नहीं जो कह दूँ कि यह होगा। वह बोला—जैसी एक एक गप्प इन लोगोंने छोड़ी वैसी आप भी छोड़ दीजिए। मुझे कह आया कि बच्चा होगा और उनका श्रेयासकुमार नाम होगा। समय आने पर उसके बच्चा हुआ। उसने तार देकर बाईजीको तथा मुझे बुलाया। हम लोग पहुँच गये। बड़ा खुश हुआ। उसने खुशीमे बहुत सारा गल्ला गरीबोंको बांटा और बहुतोंका कर्ज छोड़ दिया। नाम-संस्करणके दिन एक थाली मे सौ-दो-सौ नाम लिखकर रक्खे और एक पाच वर्षकी लड़कीसे उनमेसे एक २ कागज निकलवाया। सो उसमें श्रेयासकुमार नाम निकल आया। मैंने तो गप्प ही छोड़ी थी। पर वह सच ही निकल आई। एक बार श्रेयासकुमार बीमार पड़ा तो गावके कुछ लोगोने मूलचन्द्रसे कहा कि एक सोने का रालम बनाकर कुएको चढा दो। मूलचन्द्रने बड़ी दृढताके साथ उत्तर दिया कि यह लड़का मर जाय, मूलचन्द्र मर जाय, उसकी स्त्री मर जाय, सब मर जाय- पर मैं रालम बनाकर नहीं चढा सकता। श्रेयासकुमार उसके पाच विवाह बाद उत्पन्न एक ही लड़का था। फिर भी अपना श्रद्धान तो यही कहता है। जो मौका आने पर विचलित हो जाते है उनके श्रद्धान मे क्या धरा?

यह पञ्चाध्यायी ग्रंथ है। इसमे लिखा है कि सम्यग्दृष्टि निःशङ्क होता है-निर्भय होता है। मैं आपसे पूछता हू कि उस

भय है ही किस बातका ? 'वह अपने आपको जब अजर अमर, अविनाशी पर पदार्थसे भिन्न श्रद्धान करता है' उसे जब इस बातका विश्वास है कि पर पदार्थ मेरा नहीं है, मैं अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद-ज्ञान ज्योतिस्वरूप हूँ। मैं एक हूँ। पर पदार्थ-से मेरा क्या सम्बन्ध ? अणुमात्र भी पर द्रव्य मेरा नहीं है। हमारे ज्ञानमें ज्ञेय आता है पर वह भी मुझसे भिन्न हैं। मैं रसको जानता हूं पर रस मेरा नहीं होजाता। मैं नव पदार्थोंको जानता हूं पर नव पदार्थ मेरे नहीं हो जाते। भगवान कुन्द कुन्द-स्वामी ने लिखा है–

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाणमइयो सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणु मित्तं पि॥

मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन-ज्ञानमय हू, अरूपी हूँ। अधिककी बात जाने दो परमाणुमात्र भी पर द्रव्य मेरा नहीं है।

पर बात यह है कि हम लोगोंने तिलीका तेल खाया है, घी नही। इसलिये उसे ही सब कुछ समझ रहे हैं। कहा है –

तिलतैलमेव मिष्ट येन न दृष्ट घृतं क्वापि।
अविदित परमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीया॥

जिसने वास्तविक सुखका अनुभव नहीं किया वह विषय सुखको ही रमणीय कहता है। इस जीवकी हालत उस मनुष्य के समान हो रही है जो सुवर्ण रखे तो अपनी मुट्ठीमे है पर खोजता फिरता है अन्यत्र। अन्यत्र कहा धरा ? आत्माकी चीज आत्मामें ही मिल सकती है।

एक भद्र प्राणी था। उसे धर्मकी इच्छा हुई। मुनीराजके पास पहूँचा, मुझे धर्म चाहिए। मुनिराजने कहा-भैया ? मुझे और बहुत सा काम करना है। अत अवसर नहीं। इस पास की नदीमे चले जाओ उसमें एक नाकू रहता ह। मैंने उसे अभी अभी धर्म दिया है वह तुम्हे दे देगा। भद्रप्राणी नाकूके पास जाकर कहता है कि मुनिराजने धर्मके अर्थ मुझे आपके पास भेजा है धर्म दीजिए। नाकू बोला, अभी लो एक मिनिटमे लो, पर पहिले एक काम मेरा करदो। मैं बड़ा प्यासा हूँ, यह सामने किनारे पर एक कुआ है उससे लोटा भर पानी लाकर मुझे पिलादो, फिर मैं आपको धर्म देता हूँ। भद्राप्राणी कहता है-तू बड़ा मुर्ख मालूम होता है, चौबीस घण्टे तो पानीमें बैठा है और कहता कि मैं प्यासा हूँ। नाकूने कहा कि भद्र! जरा अपनी ओर भी देखो। तुम भी चौबीसो घण्टे धर्मम बैठे हो इधर उधर धर्मकी खोज मे क्यों फिर रहे हो ? धर्म तो तुम्हारी आत्माका स्वभाव है, अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?

सम्यग्दृष्टि सोचता है जिस कालमे जो बात होने वाली होती है उसे कौन टाल सकता है ? भगवान् आदि-नाथ को ६ माह आहार नही मिला। पाण्डवोंको अन्त मुहूर्त में केवलज्ञान होने वाला था, ज्ञान कल्याणक का उत्सव करने के लिए देवलोग आने वाले थे। पर इधर उन्हे तप्त लोहेके जिरहबख्तर पहिनाये जाते हैं। देव कुछ समय पहिले और आ जाते ? आ कैसे जाते

होना तो वही था जो हुआ था । यही सोच कर सम्यग्दृष्टि न इस लोकसे डरता है, न पर लोकसे । न उसे इस बातका भय होता है कि मेरी रक्षा करने वाले गढ, कोट आदि कुछ भी नहीं हैं । मैं कैसे रहूगा ? न उसे आकस्मिक भय होता है और सबसे बड़ा मरणका भय होता है सो सम्यग्दृष्टिको वह भी नहीं होता । वह अपनेको सदा अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञानज्योति स्वरूप, महानता है । सम्यग्दृष्टि जीव ससारसे उदासीन होकर रहता है । तुलसीदासने एक दोहे में कहा है—

'जग तै रहु छत्तीस हो रामचरण छह तीन ।'

संसारसे छत्तीस ३६ के समान विमुख रहो और रामचन्द्रजीके चरणों मे ६३ के समान सम्मुख ।

वास्तवमे वस्तुतत्त्व यही है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मा बड़ी पवित्र होजाती है, उसका श्रद्धान गुण बड़ा प्रबल होजाता है । यदि श्रद्धान न होता तो आपके गॉवमे जो २८ उपवास वाला बैठा है वह कहांसे आता ? इस लडकीके (काशीवाईकी ओर संकेत करके) आज आठवॉ उपवास है । नत्था कही बैठा होगा । उसके बारहवॉ उपवास है और एक एक, दो दो उपवास-वालोंकी तो गिनती ही क्या है ? 'अलमा कौन पियादों मे '? वे तो सौ दो-सौ होंगे । यदि धर्मका श्रद्धान न होता तो इतना क्लेश फौकटमे कौन सहता ?

व्याख्यानकी बात थी सो तो हो चुकी। अब आपके नगरके एक बडे आदमीका कुछ आग्रह है सो प्रकट करता हूँ। भैया! मैं तो ग्रामोफोन हूं, चाहे जो बजा लेता है-जो मुझे जैसी कहता है वैसी ही कह देता हू। इन बडे आदमियोंकी इतनी बात माननी पड़ती है; क्योंकि उनका पुण्यही ऐसा है। अभी यहां बैठनेको जगह नहीं है पर सेठ हुकमचन्द्र आजाय तो सब कहने लगेंगे, इधर आओ, इधर आओ। अरे, हमारी तुम्हारी बात जाने दो, तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनि तो समय पर ही खिरनी है पर यदि चक्रवर्ती पहुँच जाय तो असमयमे भी खिरने लगती है। अपने रागद्वेष है पर उनके तो नही है। चक्रवर्तीकी पुण्यकी प्रबलतासे भगवानकी दिव्यध्वनि अपने आप खिरने लगती है। हाँ, तो यह सिंघईजी कह रहे हैं कि महिलाश्रमके लिए अभी कुछ होजाय तो अच्छा है फिर मुश्किल होगा। भैया? मै विद्यालयको तो मांगता नही और उस वक्तभी नहीं मांगे थे, पर बिना मागे ही सेठ २५०००) दे गया तो मैं क्या करूं मैं तो बाहरकी संस्थाओं को देता था, पर मुझे कह आया कि यदि सागर इतने ही और देवे तो सब वही ले ले। आप लोगोंने बहुत मिला दिये। कुछ बाकी रहगये सो आप लोग अपना वचन न निभाओगे तो किसीसे भीख मॉग दूंगा। यह बात महिलाश्रमकी है जैसे बच्चे तैसे बच्चियाँ। आपकी ही तो है। इनकी रक्षामे यदि आपका द्रव्य लगता है तो मैं समझता

हूँ अच्छा ही हो रहा है । पाप करके लक्ष्मीका संचय जिनके लिए करना चाहते हो वे उसके फल भोगने मे शामिल न होंगे । वाल्मीकि का किस्सा है । वाल्मीकि जो एक बड़ा ऋषि माना जाता है, चौरी-डकैती करके अपने परिवारका पालन करता था । उसके रास्ते जो कोई निकलता उसे वह लूट लेता था । एक बार एक साधु निकले । उनके हाथमें कमण्डलु था । वाल्मीकिने कहा रखदो यहाँ कमण्डलु । साधुने कहा-बच्चे यह तो डकैती है, इसमे पाप होगा । वाल्मीकिने कहा-मैं पाप पुण्य कुछ नहीं जानता, कमण्डलु रखदो । साधुने कहा-अच्छा, मैं यहाँ खड़ा रहूंगा, तुम अपने घरके लोगोंसे पूछ आओ कि मैं एक डकैती कर रहा हूं उसका जो फल होगा उसमे शामिल हो, कि नहीं ? लोगोंने टका सा जवाब दे दिया तुम चाहे डकैती करके लाओ चाहे साहूकारी से । हम लोग तो खाने भरमे शामिल हैं । वाल्मीकिको बात जम गई और वापिस आकर साधुसे बोला-बाबा मैंने डकैती छोड़ दी । आप मुझे अपना चेला बना लीजिए ।

बात वास्तविक यही है । आप लोग पाप-पुण्यके द्वारा जिनके लिए सम्पत्ति इकट्ठी कर रहे हो वे कोई साथ देने वाले नहीं है । अतः समय रहते सचेत हो जाओ । देखें आप लोगोंमें से कोई हमारा साथ देता है या नहीं ।

(अहिंसा-तत्व)

अहिंसा तत्व ही एक इतना व्यापक है जो इसके उत्तर में सर्व धर्म आ जाते हैं जैसे हिंसा पापमें सब पाप गर्भित हो

जाते हैं। सर्वसे तात्पर्य चोरी, मिथ्या, अब्रह्म और परिग्रहसे है क्रोध, मान, माया, लोभ ये सर्व आत्म गुणके घातक हैं अतः ये सर्व पाप ही हैं। इन्हीं कषायोंके द्वारा आत्मा पापोंमें प्रवृत्ति करता है तथा जिनको लोकमें पुण्य कहते हैं वह भी कषयों के सद्भावमे होते हैं। कषाय आत्माके गुणोंके घातक हैं अतः जहां भी आत्माके चारित्रगुणका घात है और इसलिये वहाँ भी हिंसा ही है। अत. जहाँ पर आत्माकी परिणति कषायोंसे मलीन नहीं होती वहीं पर आत्माका अहिंसा-परिणाम विकास रूप होता है उसीका नाम यथाख्यातचारित्र है। जहाँ पर रागादिक परिणामोंका अंश भी नहीं रहता उसी तत्त्वको आचार्योंने अहिंसा कहा है—

'अहिंसा परमो धर्म यतो धर्मस्ततो जय' श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने उसका लक्षण यों कहा है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप॥

'निश्चय कर जहाँ पर रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं होती वहीं अहिंसाकी उत्पत्ति है और जहाँ रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति होती है वहीं पर हिंसा होती है। ऐसा जिनागमका संक्षेपसे कथन जानना,। यहाँ पर रागादिकोंसे तात्पर्य आत्माकी परिणति विशेष से है-पर पदार्थमें प्रीतिरुप परिणामका होना राग तथा अप्रीतिरूप परिणामका नाम द्वेष, और तत्त्वकी अप्रीति रूप परिणामका होना मोह अर्थात् राग, द्वेष, मोह ये तीन' आत्माके विकार भाव है। ये जहाँ पर होते हैं वहीं आत्मा कलिल (पाप) का संचय करता है, दुखी होता है, नान प्रकार पापादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि-

कार्योंमें व्यग्र रहता है, तीव्र राग द्वेष हुआ तब विषयोंमें प्रवृत्ति करता या हिंसादि पापोंमें मग्न हो जाता है। कहीं भी इसे शांति नहीं मिलती। यह सर्व अनुभूत विषय है। और जब रागादि परिणाम नहीं होते तब शांतिसे अपना जो ज्ञाता द्रष्टा स्वरुप है उसीमें लीन रहता है। जैसे जलमे पंक के सम्बन्धसे मलिनता रहती है, यदि पंकका सम्बन्ध उससे पृथक हो जावे तब जल स्वयं निर्मल हो जाता है। तदुक्तं— 'पंकापाये जलस्य निर्मलता वत्।' निर्मलताके लिये हमें पंकको पृथक करनेकी आवश्यकता है अथवा जैसे जलका स्वभाव शीत है, अग्निके सम्बन्धसे, जलमें उष्ण पर्याय्य हो जाती है, उस समय जल देखा जावे तो उष्ण ही है। यदि कोई मनुष्य जलको शीत स्वभाव मान कर पान करजावे तब वह नियमसे दाह भावको प्राप्त हो जावेगा। अतएव जलको शीत करनेके वास्ते आवश्यकता इस बात की है कि उसको किसी दूसरे वर्तनमें डालकर उसकी उष्णता पृथक कर दी जाय, इसी प्रकार आत्मामें मोहोदयसे जो रागादि परिणाम होते हैं वे विकृत-भाव हैं। उनके न होनेका यही उपाय है जो वर्तमानमें रागादिक हों उनमें उपादेयताका भाव त्यागे, यही आगामी न होनेमे मुख्य उपाय है। जिनके यह अभ्यास होजाता है उनकी परिणति सन्तोषमयी होजाती है। उनका जीवन शान्तिमय वीतता है, उनके एक बार ही पर पदार्थोसे निजत्व बुद्धि मिट जाती है। और जब परमें निजत्वकी कल्पना मिट जाती है तब सुतरां रागद्वेष नहीं होते। जहाँ आत्मामे रागद्वेष नहीं होते वहाँ पूर्ण अहिंसाका उदय होता है। अहिंसा ही मोक्ष-मार्ग है। वह आत्मा फिर आगामी अनन्त काल तक जिस रूपसे परिणम गया, उसी रूप रहता है। जिन भगवान्ने यही

अहिंसाका तत्व बताया है-अर्थात जो आत्माएं रागद्वेष मोह के सद्भावसे मुक्त हो चुकी हैं उन्हींका नाम जिन है। वह कौन हैं? जिसके यह भाव हो गये वही जिन है। उसने जो कुछ पदार्थका स्वरूप दर्शाया उस अर्थके प्रतिपादक जो शब्द हैं उसे जिनागम कहते हैं। परमार्थसे देखा जाय तो, जो आत्मा पूर्ण अहिंसक हो जाती है उसके अभिप्रायमें न तो परके उपकारके भाव रहते हैं और न अनुपकारके भाव रहते हैं। अत न उनके द्वारा किसीके हितकी चेष्टा होती है और न अहितकी चेष्टा होती है किन्तु जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह उदयमे आकर अपना रस देता है। उस कालमे उनके शरीरसे जो शब्द-वर्गणा निकलती है उनसे क्षयोपशमज्ञानी वस्तु स्वरूप के जाननेके अर्थ आगम रचना करते हैं।

आज बहुतसे भाई जैनोंके नामसे यह समझते हैं कि एक जाति विशेष है। यह समझना कहाँ तक तथ्य है, पाठकगण जाने। वास्तवमे जिसने आत्माके विभाव भावों पर विजय पा ली वही जैन है। यदि नामका जैनी है और उसने मोहादि कलकोंको नही जीता तब वह नाम 'नाम वा नैनसुख आँखोका अन्धा' की तरह है। अतः मोह विकल्पोंको छोडो और वास्तविक अहिंसक बनो।

वास्तवमे तो बात यह है कि पदार्थ अनिर्वचनीय है कोई कह नहीं सकता। आप जब मिसरी खाते हो तब कहते हो मिसरी मीठी होती है—जिस पात्रमें रक्खी है वह नहीं कहता; क्योकि जड़ है। ज्ञान चेतन है वह जानता है मिसरी मीठी होती है। परन्तु यह भी कथन नहीं बनता; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता। फिर जब मिसरी ज्ञानमें

गई नहीं तब मिसरी मीठी होती है,यह कैसे शब्द कहा जा सकता है ? अथवा जब ज्ञानमे ही पदार्थ नहीं आता तब शब्दसे उसका व्यवहार करना कहाँ तक न्याय-संगत है। इससे यह तात्पर्य निकला कि मोहपरिणामोंसे यह व्यवहार है अर्थात् जब तक मोह है तब तक ज्ञान में यह कल्पना है। मोहके अभावसे यह सर्व कल्पना विलीन हो जाती है-यह असंगत नहीं। जब तक प्राणीके मोह है तब तक ही यह कल्पना है जो ये मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ और ये मेरी भार्या है मैं इसका पति हूं। मोहके अभावमें यह सर्व व्यवहार विलीन हो जाते हैं—जब यह आत्मा मोहके फन्दे में रहता है तब नाना कल्पनाओंकी पुष्टि करता है, किसीको हेय और किसीको उपादेय मानकर अपनी प्रवृत्ति बनाकर इतस्तत भ्रमण करता है। मोहके अभावमे आपसे आप शान्त हो जाता है। विशेष क्या कहूं, इसका मर्म वे ही जाने जो निर्मोही है' अथवा वे ही क्या जाने, उन्हें विकल्प ही नहीं।

॥ इति ॥

अवतरण पद्यानुक्रम

शुद्धि-पत्र

इस पुस्तक में बहुत कुछ सावधानी रखने पर भी प्रेस की लापरवाही से कुछ अशुद्धियां रह गई हैं, जिनका मुझे भारी खेद है फिर भी उनमें से कुछ अशुद्धियोंका शुद्धि-पत्र नीचे दिया जा रहा है। पाठक शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	८	याचितआत्मलाभ	याचितयात्मलाभ
१६	४	निवारण	निरावरण
१७	८	रोग	राग
१८	७	अत्मा	आत्मा
१८	११	हाता	होता
३२	४	शुभोपयोगकी	शुद्धोपयोगकी
४८	१	वाह्य	बाह्य
४६	२	अन्तरगमे	अन्तरंगमें
५१	२०	माध्यद्भगवाण	माध्यद्भगवान्
६४	७	चिन्मूरति	चिन्मूर्ति
७०	१०	लघुकेतसाम्	लघुचेतसाम्
६३	१५	शुभ	मम्
१०५	५	जहिम	जम्हि
१२४	११	मुक्तयनुशासन ?	युक्त्यनुशासन
१२५	१८	यायान्याय	न्यायान्याय
१६०	२०	(अहिंसा-तत्व)	अहिंसातत्त्व